भाषा-विज्ञान के तत्व

डॉ॰ राजनारायण मौर्य

भाषा-विज्ञान के तत्त्व

लेखक
डॉ० राजनारायण मौर्य
हिन्दी-विभाग
पूना विश्वविद्यालय
पूना-७

प्रकाशक

प्रकाशक
साहित्य भवन, प्रा० लि०
इलाहाबाद

मूल्य : दो रुपया पचहत्तर पैसे

प्रथम संस्करण : १९६८

मुद्रक
रामशरण अग्रवाल,
प्रगति प्रेस,
७३, कल्याणीदेवी रोड
इलाहाबाद-३

आमुख

भाषा एवं साहित्य के अध्ययन के सन्दर्भ में अब भाषा-विज्ञान के अध्ययन की अनिवार्यता को नकारना सम्भव नहीं है। विगत कुछ वर्षों में भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में हुई प्रगति ने स्वभावतः उसका क्षेत्र-विस्तार किया है, और अध्ययन की नवीनतम प्रणालियों और उसके लिए उपलब्ध साधनों के कारण अब यह सम्भव नहीं रह गया है कि साहित्य-अध्ययन के लिए निर्धारित सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर विद्यार्थी भाषा एवं भाषा-विज्ञान-विषयक प्रारम्भिक ज्ञान की प्राप्ति का प्रयत्न करे अथवा मात्र उसकी उपलब्धि से सन्तुष्ट हो। भाषा-विज्ञान के अध्ययन की दिशा में विशेष तत्परता की आवश्यकता का अनुभव करते हुए ही अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों ने स्नातक स्तर पर ही उसके सामान्य ज्ञान के अध्ययन की व्यवस्था की है। हिन्दी लेकर स्नातक एवं स्नातकोत्तर परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने वाले छात्रों को इस व्यवस्था के अन्तर्गत अध्ययन करना पड़ता है, किन्तु उनकी अपेक्षा के अनुकूल सरल एवं ग्राह्य शैली में लिखित पुस्तकों का लगभग अभाव ही है। मुझे प्रसन्नता है कि डॉ० राजनारायण मौर्य ने इस विषय के अपने आधिकारिक ज्ञान एवं विशेष अध्ययन को स्नातक कक्षाओं के छात्र-वर्ग के लिए उपयोगी रूप में प्रस्तुत करके इस अभाव की पूर्ति की है। मुझे विश्वास है कि उनके दीर्घकालिक अध्यापनानुभव के सहज लाभ के परिणामस्वरूप उनकी इस कृति से अपेक्षित पाठक-वर्ग को सही और सुनिश्चित दिशा मिलेगी।

पूना विश्वविद्यालय
पूना-७
२६ अक्तूबर, १९६७ ई०

डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,

प्रस्तावना

भाषा-विज्ञान का अध्ययन भारत में दिनोदिन अधिक प्रिय होता जा रहा है। अब इसकी उपयोगिता भी बढ़ती जा रही है। यही कारण है कि सभी भाषाओं के साहित्य के साथ-साथ भाषा-विज्ञान भी अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाता है। हिन्दी में भाषा-विज्ञान स्नातकोत्तर कक्षाओं में सभी विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है, किन्तु कुछ विश्वविद्यालयों में स्नातक कक्षा में भी पढ़ाया जाता है। जिन विश्वविद्यालयों में स्नातक कक्षा में भाषा-विज्ञान पढ़ाया जाता है, वहाँ के पाठ्यक्रम को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत पुस्तक तैयार की गयी है।

भाषा-विज्ञान, अपेक्षाकृत एक जटिल विषय समझा जाता है। बिना उचित प्रशिक्षण और अध्ययन के यह विषय आसानी से बोधगम्य नहीं हो पाता। इसका अधिक प्रचार-प्रसार करने और बोधगम्य बनाने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि भाषा-विज्ञान को सरल शैली में लिखा जाय। इस पुस्तक में यही मार्ग अपनाया गया है। स्नातक कक्षा में भाषा-विज्ञान की प्रारम्भिक जानकारी पर्याप्त होती है। वस्तुतः, स्नातक कक्षा में भाषा-विज्ञान के प्रारम्भिक तत्त्वों का ज्ञान हो जाने पर, स्नातकोत्तर कक्षा में इसका अध्ययन सुकर और सुगम हो जाता है। इसीलिए इसमें भाषा-विज्ञान के कुछ प्रारम्भिक तत्त्वों की जानकारी सरल शैली में दी गयी है। गंभीर विवेचन और वाद-विवाद से पुस्तक रहित है, क्योंकि इसका उद्देश्य ही भिन्न है।

मेरा विश्वास है कि महाविद्यालयों के प्राध्यापकों और छात्रों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

राजनारायण मौर्य

हिन्दी विभाग
पूना विश्वविद्यालय,
पूना-७

विषय-सूची

: १ :

भाषा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज में रहते हुए वह एक दूसरे से परस्पर व्यवहार करता है। परस्पर व्यवहार के जितने साधन हैं उनमें विचारों की अभिव्यक्ति प्रधान है। विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उसने कई माध्यमों का सहारा लिया है। कभी वह अपने विचारों को संकेतों से व्यक्त करता है, तो कभी रंगों से; कभी झण्डियों से, तो कभी विशिष्ट प्रकार की ध्वनियों से। विचारों को व्यक्त करने के समस्त साधनों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : (१) भाषेतर, (२) भाषा। शहर के चौराहे पर खड़ा हुआ सिपाही हाथ को ऊपर-नीचे, दायें-बायें करके आने-जाने वाली सवारियों को कुछ संकेत देता रहता है, रात के समय इन्हीं चौराहों पर लाल, हरी, पीली बत्तियाँ सवारियों को संकेत देती हैं, सड़कों के किनारे बने हुए कुछ चिह्न हमें सावधान करते रहते हैं कि आगे मोड़ है, सड़क नीची है या स्कूल है आदि। स्काउट अपना सन्देश झण्डियों द्वारा भेजते हैं। अफ्रिका के जंगलों में नगाड़ा बजाकर दूर-दूर तक सन्देश भेजे जाते हैं। पुलिस अपनी सीटी से भी इसी प्रकार का काम लेते हैं। बड़ी-बड़ी मण्डियों में व्यापारी या दलाल कपड़े के नीचे हाथ रखकर भाव-ताव करते हैं। इसके अलावा हम भी कभी आँखों, हाथों तथा सिर से कुछ संकेत किया करते हैं। ये सभी संकेत भाषेतर अभि-व्यक्ति के अन्तर्गत आते हैं। इन्हें भाषा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। समाज में परस्पर व्यवहार के लिए इन संकेतों का अधिक उपयोग भी नहीं

होता । वस्तुतः व्यापक स्तर पर जिस साधन का उपयोग होता है उसे भाषा कहते हैं ।

भाषा मानव-वागेन्द्रियों से निःसृत सार्थक तथा यादृच्छिक ध्वनि-समूहों की वह व्यवस्था है जिससे एक मानव-समुदाय परस्पर विचारों का आदान-प्रदान करता है । इस परिभाषा को ठीक-ठीक समझने के लिए हम इसके अलग-अलग अंगों पर विचार करेंगे । भाषा में प्रधान ध्वनियाँ हैं, किन्तु ये ध्वनियाँ वागेन्द्रियों से निःसृत और सार्थक हों । हाथ से ताली अथवा चुटकी बजाने पर भी ध्वनि होती है और उसका कुछ अर्थ भी होता है, किन्तु इस ध्वनि को हम भाषा के अन्तर्गत नहीं रख सकते ।

भाषा में प्रयुक्त ध्वनि मनुष्य की वागेन्द्रियों से ही निःसृत होती है । वागेन्द्रियों से ऐसी भी कई ध्वनियाँ निकाली जा सकती हैं जिनका कोई अर्थ नहीं होता । वे सार्थक ध्वनियाँ नहीं होतीं । बहुत सारी ध्वनियों को यों ही उत्पन्न किया जा सकता है जिनसे किसी अर्थ का बोध नहीं होता और न उन ध्वनियों का विश्लेषण ही किया जा सकता है । वस्तुतः ऐसी ध्वनियाँ भाषा में नहीं आतीं । अतः भाषा के अन्तर्गत आनेवाली ध्वनियाँ मनुष्य की वागेन्द्रियों द्वारा उत्पन्न हों और साथ ही सार्थक भी ।

ये सार्थक ध्वनियाँ यादृच्छिक होती हैं । किसी ध्वनि-समूह से उस वस्तु के किसी आंतरिक गुण का सम्बन्ध नहीं होता है जिसके लिए वह प्रयुक्त होता है । ये ध्वनि-समूह पूर्णतः वैकल्पिक होते हैं । यदि भाषा का ध्वनि-समूह वस्तुओं के गुणों या लक्षणों से युक्त होता, तो दुनिया की एक ही भाषा होती, इतनी सारी अलग-अलग भाषाएँ न होतीं । गाय के लिए प्रयुक्त ग् आ य ध्वनि-समूह में कोई ऐसा संकेत नहीं है जो गाय की विशेषता हो । इस तरह वस्तु और ध्वनि में किसी सम्बन्ध की कल्पना किए बिना ग् + आ + य ध्वनि-समूह गाय के लिए प्रयुक्त होने लगा । अन्य लोग इसी वस्तु के लिए क् आ उ ध्वनि-समूह का प्रयोग करने

लगे। एक भिन्न समाज के लोग का व् उ ध्वनि-समूह का प्रयोग करने लगे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ये ध्वनियाँ यादृच्छिक हैं।

भाषा में एक निश्चित प्रकार की व्यवस्था होती है। यह व्यवस्था ही एक भाषा को दूसरी भाषा से पृथक् करती है। इस व्यवस्था को हम उस भाषा की प्रकृति कह सकते हैं। हिन्दी में उ उ उ घ ख झ ध घ भ भ ध्वनि-समूह पढ़ने में विचित्र-सा लगता है, क्योंकि हिन्दी में इस प्रकार के ध्वनि-क्रम की व्यवस्था ही नहीं है। इसके स्थान पर यदि आप "गण-पति, उठ चल कसरत कर" ध्वनि-समूह पढ़ें तो आपको यह व्यवस्था परिचित-सी लगेगी। इस तरह 'ढो फ स में खाघक णडोश आया' वाक्य में शब्द-समूह कुछ विचित्र-सा है। लेकिन इसके स्थान पर "कमरे में लड़का जल्दी आया" कहें तो इसमें विचित्रता नहीं लगती, क्योंकि शब्दों के इस क्रम से हम परिचित हैं। भाषा में यह व्यवस्था ध्वनि, शब्द और वाक्य तीन स्तरों पर होती है। अतः भाषा के लिए यह भी आव-श्यक है कि उसके ध्वनि-समूहों की एक निश्चित व्यवस्था हो।

भाषा एक सीमित जनसमुदाय की होती है। एक समुदाय में एक भाषा का प्रयोग होता है; दूसरे समुदाय में दूसरी भाषा का। एक निश्चित क्षेत्र के लोग किन्हीं कारणों से एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और वे सब विचार-विनिमय के लिए एक ही प्रकार का माध्यम अपनाते हैं। स्वाभाविक रूप से अपने आप उनमें यह समझौता हो जाता है कि वे सब आपस में एक सर्वमान्य ध्वनि-समूह और उसकी व्यवस्था को स्वीकार करेंगे और उन सबकी एक भाषा बन जाती है। इसी प्रकार दूसरा समुदाय भी करता है और उसकी भी एक भाषा बन जाती है। इस प्रकार संसार में अनेक समुदायों की अनेक भाषाएँ हैं। एक समुदाय की भाषा दूसरे समुदाय के लिए परायी होती हैं; उसमें अपने विचारों को प्रगट करने के लिए उस दूसरी भाषा को सीखना पड़ता है जब कि अपने समुदाय की भाषा स्वतः आ जाती है। अपने समुदाय की भाषा को ही मातृभाषा कहते हैं।

भाषा विचारों के आदान-प्रदान का साधन मात्र ही नहीं है, वह हमारे सोचने, समझने और तक-वितर्क का भी माध्यम है। जव हम अपने विचारों को व्यक्त नहीं करते और मन में कुछ सोचते रहते हैं तव भी हम भाषा का ही उपयोग करते हैं। भाषा का वह रूप व्यक्त नहीं है। जिन ध्वनियों के माध्यम से विचार-विनिमय करके हम भाषा का निर्माण करते हैं, वे ध्वनियाँ सोचते समय अव्यक्त रहती हैं। एक प्रकार से हम सोचते समय भाषा के सूक्ष्म या अव्यक्त रूप का प्रयोग करते हैं।

हमारे जीवन में भाषा का वहुत अधिक महत्त्व है। भाषा के बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति आत्माभिव्यक्ति की है और भाषा अभिव्यक्ति के लिए सवसे सुगम और श्रेष्ठ साधन है। सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान और साहित्य आज जो मानव-जाति को उपलव्ध है वह भाषा के ही कारण। भाषा के माध्यम से मनुष्य सोचता है, अपने को व्यक्त करता है और दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करता है। सारा सामाजिक व्यवहार भाषा पर ही आधारित है। मनुष्य में सामाजिकता का मूल कारण भाषा है। बिना भाषा के समाज कभी बन ही नहीं सकता था। अतः भाषा मानव-समाज की सवसे वड़ी उपलब्धि है।

भाषा की विशेषताएँ

अलग-अलग जनसमुदायों की भाषाएँ अलग-अलग होती हैं, किन्तु कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व हैं जो सभी भाषाओं में प्राप्त होते हैं। उन्हें हम भाषा की विशेषताएँ कह सकते हैं। ये विशेषताएं किसी एक भाषा पर लागू न होकर सभी भाषाओं पर लागू होती हैं। नीचे क्रम से उनका उल्लेख किया जा रहा है।

(१) भाषा पूर्णरूप से सामाजिक वस्तु है :

सामाजिक व्यवहार के लिए भाषा ही सबसे बड़ा साधन है। सामाजिकता और भाषा, दोनों अन्योन्याश्रित हैं। भाषा की उत्पत्ति समाज

द्वारा होती है और इसका विकास भी समाज में ही होता है। इसका उपयोग भी समाज के लिए ही होता है। बच्चा जब पैदा होता है, तो उसके बाद वह परिवार से भाषा सीखता है। भले ही भाषा सिखाने का कार्य उसकी माँ से प्रारम्भ होता है, किन्तु आगे चलकर सारा समाज उसे भाषा सिखाता है। माँ बच्चे को जो भाषा सिखाती है वह समाज की ही सम्पत्ति होती है जिसको उसने भी अपनी माँ से प्राप्त किया था। बच्चा इसलिए भाषा सीखता है कि उसे अपने आस-पास के लोगों से व्यवहार करना होता है। वह परिवार और समाज तक अपनी बात पहुँचाना चाहता है और दूसरे लोगों की बात समझना चाहता है। समाज का अंग बनने के लिए उसे हर प्रकार से भाषा की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुतः सामाजिकता के निर्वाह के लिए ही भाषा का निर्माण हुआ है। समाज को छोड़कर भाषा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः यह कहा जा सकता है कि भाषा समाज द्वारा निर्मित है, समाज के लिए है और समाज की है।

(२) भाषा परिवर्तनशील है :

परिवर्तनशीलता भाषा का एक प्रधान गुण है। आज से कुछ हजार या कुछ सौ वर्ष पहले भाषा के जिस रूप का प्रयोग होता था उसका प्रयोग अब नहीं होता। उसमें परिवर्तन हो गया है। दुग्ध से दूध, पृष्ठ से पीठ, मेघ से मेह शब्द-परिवर्तन के ही परिणाम हैं। यह परिवर्तन भाषा के सभी अंगों—ध्वनि, शब्द, वाक्य और अर्थ—में होता है। शब्दों में कुछ नयी ध्वनियाँ आकर जुड़ जाती हैं, कुछ लुप्त हो जाती हैं या कुछ में विपर्यय हो जाता है। पद-रचना में पुराने प्रत्ययों के स्थान पर नये प्रत्यय आ जाते हैं या पुराने घिसकर इतने बदल जाते हैं कि पहिचानना भी कठिन होता है। वाक्य-रचना में भी शब्दों का क्रम बदल जाता है। शब्दों के अर्थों में परिवर्तन बड़ी सहजता और शीघ्रता से होता है, क्योंकि नये-नये अर्थ प्रकट करने के लिए हम रोज शब्दों को ढूंढ़ते रहते हैं।

ऐतिहासिक कालक्रम के अलावा यह परिवर्तन स्थान के आधार पर भी होता रहता है। एक स्थान की भाषा दूसरे स्थान से भिन्न होती है। हिन्दी में तो एक कहावत ही है कि 'चार कोस पर पानी बदले आठ कोस पर वानी।' भाषा की परिवर्तनशीलता में विशेष बात यह है कि हमें परिवर्तन के समय परिवर्तन की दिशा या प्रकार का कुछ भी पता नहीं चलता। हमें परिवर्तन तब मालूम होता है जब भाषा का कोई अंग या रूप पहले से भिन्न हो जाता है। भाषा में यह परिवर्तन अनजाने ही सहज रूप में चलता रहता है।

(३) भाषा का एक स्थिर और मानक रूप होता है :

भाषा में जहाँ परिवर्तन और विविधता की प्रवृत्ति होती है वहीं स्थिरीकरण और एकता की भी। परिवर्तन की अनिवार्य प्रवृत्ति के कारण ही एक काल की भाषा दूसरे काल से और एक स्थान की भाषा दूसरे स्थान से भिन्न होती है; किन्तु यदि इस परिवर्तन पर कोई नियन्त्रण न हो, तो एक पीढ़ी की भाषा दूसरी पीढ़ी के लिए समझना कठिन हो जायेगा या हर व्यक्ति की अलग-अलग भाषा वन जायेगी। इसीलिए परिवर्तन पर एक नियन्त्रण होता है। भाषा का एक मानक रूप होता है जिसे प्राप्त करने के लिए सभी व्यक्ति प्रयत्न करते हैं। व्याकरण आदि के द्वारा हम उसी मानक रूप तक पहुँचते हैं। दस वर्ष पहले का वाक्य 'सीता घर में बैठी है'' को आज हम परिवर्तित करके 'सीता घर से बैठा है' नहीं कह सकते। व्याकरण हमें भाषा के मानक या स्थिर रूप से भिन्न प्रयोग की स्वीकृति नहीं देता। प्राकृतिक नियम से भाषा परिवर्तित होना चाहती है, किन्तु आदमी उसे रोकना चाहता है। आदमी के इस प्रयत्न से परिवर्तन रुकता नहीं, किन्तु उसकी गति धीमी अवश्य पड़ जाती है। आदमी का यही प्रयत्न भाषा को अपेक्षित स्थिरता प्रदान करता है और साहित्य, व्याकरण, शिक्षा, शासन आदि उसे मानक रूप देते हैं।

(४) भाषा व्यवहार द्वारा अर्जित वस्तु है :

भाषा, बच्चे को अपने माता-पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त होती है, किन्तु भाषा की यह सम्पत्ति अन्य मकान, जमीन आदि सम्पत्ति की तरह नहीं मिलती। मकान, जमीन आदि सम्पत्ति तो बच्चे को माँ-बाप द्वारा बिना प्रयास के मिलती है, किन्तु भाषा के लिए उसे प्रयास करना पड़ता है। मातृ-भाषा माँ से अवश्य प्राप्त होती है, किन्तु बच्चे को उसे सीखने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। लोग भाषा को ईश्वर-प्रदत्त वस्तु मानते हैं, किन्तु बच्चा नाक, कान, आँख आदि की तरह ही भाषा लेकर नहीं जन्मता। भाषा जन्मजात वस्तु नहीं है। इतना अवश्य है कि बच्चे में एक जन्मजात प्रवृत्ति होती है, जिसके कारण वह भाषा सीख सकता है। उसे अपने आस-पास के व्यवहार से भाषा सीखनी पड़ती है। अकेला शिशु निर्जन स्थान में रह कर भाषा कभी नहीं सीख सकता। वह व्यवहार द्वारा ही ध्वनियों का ठीक उच्चारण, शब्दों का प्रयोग आदि सीखता है। समाज में लगातार भाषा सीखने की प्रक्रिया अनजाने में ही चलती रहती है। इस सीखने में अनुकरण ही प्रधान होता है। आगे चलकर व्याकरण, शब्दकोष, शिक्षक आदि के द्वारा बच्चे की भाषा को एक स्थिर रूप प्राप्त होता है। अतः भाषा सामाजिक व्यवहार द्वारा अर्जित की हुई वस्तु है।

इसके अतिरिक्त भाषा की कुछ और विशेषताएँ भी हैं जो या तो इन्हीं विशेषताओं के अन्तर्गत आ जाती हैं या उनका महत्त्व गौण है। उदाहरणार्थ, भाषा सामाजिक दृष्टि स्तरित होती है। यह स्वाभाविक है कि समाज में जितने स्तर होते हैं भाषा में भी उतने ही स्तर मिलेंगे। विद्वानों और अपढ़ों की भाषा में अन्तर होता है। भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वालों की भाषा में भी परस्पर अन्तर पाया जाता है। प्रत्येक भाषा की प्रकृति भी भिन्न होती है। एक भाषा में जिस प्रकार की ध्वन्यात्मक व्यवस्था, व्याकरणिक नियम आदि होते हैं, दूसरी भाषा में

उसी प्रकार के नहीं होते। भाषा का प्रवाह अविच्छिन्न होता है। उसमें परिवर्तन भले ही आये, किन्तु प्रवाह में कभी एकदम वाधा नहीं आती। भाषा एक नैसर्गिक प्रक्रिया है और प्रकृति के अनुसार इसका सर्वदा विकास होता रहता है।

भाषा के विविध रूप

यदि किसी व्यक्ति को न देखते हुए भी हम उसकी बात सुनते हैं, तो उसे पहचान लेते हैं। यह इसलिए कि प्रत्येक व्यक्ति की भाषा में अन्तर होता है। किन्हीं भी दो व्यक्तियों की भाषा एक जैसी नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति के वोलने का ढङ्ग तो अलग होता ही है, उनके उच्चारण, शब्दावली और वाक्य-रचना में भी अन्तर होता है। वस्तुतः भाषा का यह अन्तर व्यक्तियों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का सूचक है। इस तरह हम देखें तो जितने व्यक्ति होंगे उतनी ही भाषाएँ भी। परन्तु सामाजिक दृष्टि से विचार करने पर हमें ज्ञात होगा कि प्रत्येक व्यक्ति के वोलने के ढङ्ग में तथा उसकी भाषा में अन्तर होते हुए भी एक समुदाय की भाषा में समानता होती है। शिक्षा, संस्कृति, राजनीति, व्यवसाय आदि के कारण मनुष्यों के कई वर्ग बन जाते हैं और प्रत्येक वर्ग की भाषा में कुछ विशिष्टता होती है। अतः सहज ही भाषा के कई स्तर या रूप हो जाते हैं। भूगोल, इतिहास, राजनीति आदि के कारण भी भाषा में अलगाव आ जाता है। भाषा के ये भिन्न स्तर या पृथक् रूप ही भाषा के विविध रूप कहे जाते हैं।

परिनिष्ठित भाषा :

प्रत्येक भाषा का एक आदर्श रूप होता है जिसको प्राप्त करने के लिए उस समाज का प्रत्येक व्यक्ति प्रयत्न करता है। इसे ही परि-निष्ठित भाषा कहते हैं। इसके अलावा इसे मानक या साधु या आदर्श भाषा भी कहते हैं। परिनिष्ठित भाषा एक विस्तृत भू-

भाग के एक बड़े समुदाय में विचार-विनिमय के लिए प्रयुक्त होती है। यह व्याकरण से नियन्त्रित होती है और जहाँ तक इसका विस्तार होता है अपने उसी रूप में प्रयुक्त होती है। शिक्षा, शासन तथा साहित्य-निर्माण के लिए परिनिष्ठित भाषा का ही प्रयोग होता है। हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी तथा रूसी भाषाएँ इसी वर्ग की हैं। व्यापक रूप से विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होने के कारण परिनिष्ठित भाषा का रूप स्थिर हो जाता है। इसका शब्द-भण्डार विस्तृत होता है, साथ ही विभिन्न स्रोतों से आये हुए शब्दों को पचाने की क्षमता भी इसमें अधिक होती है। नाना भावों को व्यक्त करने के लिए कभी-कभी नये शब्द भी गढ़ लिये जाते हैं। इस प्रकार से इसमें कुछ कृत्रिमता भी आ जाती है; किन्तु यह कृत्रिमता ही उसका गुण हो जाता है। इससे उस भाषा का सामर्थ्य बढ़ता है।

बोली (विभाषा) :

भाषा और बोली में अन्तर निर्दिष्ट करना बहुत सरल नहीं है। स्वरूप-विश्लेषण और अध्ययन की दृष्टि से दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है। प्रायः भाषा के लिए बोली, और बोली के लिए भाषा शब्द का प्रयोग किया जाता है। हम कभी ब्रज भाषा, विदेशी भाषा और कभी ब्रज बोली, विदेशी बोली का प्रयोग करते हैं। फिर भी वैज्ञानिक अध्ययन के लिए भाषा और बोली का अन्तर स्पष्ट किया जाता है। बोली किसी भाषा का एक रूप है जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में बोली जाती है और जिसमें उक्त भाषा के परिनिष्ठित या साहित्यिक रूप से पर्याप्त अन्तर होता है। यह अन्तर उच्चारण और व्याकरणीय गठन में होता है। किन्तु उस भाषा की अन्य बोलियों में परस्पर अधिक अन्तर नहीं होता। उनमें परस्पर बोधगम्यता होती है। भाषा और बोली के प्रमुख भेदक तत्त्वों को जान लेने के पश्चात् बोली के स्वरूप को अच्छे ढङ्ग से समझा जा सकता है। ये भेदक तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(१) भाषा की विभिन्न बोलियों में परस्पर बोधगम्यता होती है। किसी बोली को बोलने वाला उस भाषा की अन्य बोलियों को बिना सीखे ही स्वाभाविक ढङ्ग से ग्रहण कर लेता है जब कि अन्य भाषा को ग्रहण करने के लिए विशेष परिश्रम और अध्ययन की आवश्यकता होती है। मराठी भाषा की वर्‌हाडी बोली को बोलने वाला व्यक्ति खानदेशी को सहज ही समझ लेता है जब कि उसे पंजाबी को समझने के लिए पंजाबी सीखनी पड़ती है। वर्‌हाडी और खानदेशी मराठी भाषा की बोलियाँ हैं तथा मराठी और पंजाबी दो स्वतन्त्र भाषाएँ हैं।

(२) भाषा का क्षेत्र व्यापक होता है और बोली का सीमित। एक भाषा के क्षेत्र के अन्तर्गत अनेक बोलियाँ होती हैं; परन्तु एक बोली के क्षेत्र के अन्तर्गत अनेक भाषाएँ नहीं हो सकतीं। हिन्दी भाषा के अन्तर्गत अवधी, व्रज, बुन्देली, राजस्थानी आदि बोलियाँ हैं। उसी तरह मराठी भाषा के अन्तर्गत कोंकणी, खानदेशी, वर्‌हाडी आदि बोलियाँ हैं।

(३) भाषा को अधिक मान्यता प्राप्त होती है ओर बोली को नहीं। भाषा का प्रयोग शिक्षा, शासन और साहित्य-रचना के लिए होता है जब कि बोली का प्रयोग केवल दैनिक व्यवहार के लिए। भाषा शिक्षा और शासन का माध्यम होती है। साहित्य-निर्माण भी भाषा में ही होता है। वैसे कभी-कभी बोलियों में भी साहित्य-रचना होती है, किन्तु उसको अधिक मान्यता नहीं मिल पाती। सूर, तुलसी और जायसी की रचनाएँ इसके अपवाद हैं। इन्होंने व्रज और अवधी बोली में भी उच्चकोटि की साहित्य-रचना की है। समाचार-पत्र आदि भाषा में ही प्रकाशित होते हैं बोलियों में नहीं। भाषा प्रायः राजधानी के आस-पास की होती है।

इस तरह ऊपर के भेदक तत्त्वों से हम भाषा और बोली के अन्तर को समझ सकते हैं। बोली ही धार्मिक, राजनैतिक कारणों से विकसित होकर भाषा का रूप धारण कर लेती है। व्रजभाषा कभी बोली थी, किन्तु उस क्षेत्र के धार्मिक महत्त्व के कारण इसे भाषा का पद प्राप्त हो

गया था। आगे चलकर राजनैतिक कारणों से खड़ी बोली विकसित होकर भाषा बन गयी और ब्रज पुनः बोली हो गयी। बोली और भाषा परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं।

उपभाषा :

उपभाषा, किसी भाषा के अन्तर्गत ज्यादा मिलती-जुलती बोलियों का समूह है जो एक सीमित क्षेत्र में बोली जाती है और उस क्षेत्र की परिनिष्ठित भाषा से भिन्न होती है। वस्तुतः उपभाषा कोई भाषा या बोली नहीं होती; बल्कि कई बोलियों का समूह होती है । एक भाषा-क्षेत्र में यदि दस बोलियाँ हैं और उनमें आपस में मिलती-जुलती कुछ भाषाओं के तीन समूह बनते हैं, तो उस भाषा-क्षेत्र में तीन उपभाषाएँ हुई। हिन्दी भाषा के क्षेत्र में पाँच उपभाषाएँ हैं—पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी हिन्दी, पहाड़ी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी और बिहारी हिन्दी। पश्चिमी हिन्दी उपभाषा के अन्तर्गत ब्रज, खड़ी बोली, बाँगरू, बुन्देली और कनौजी बोलियाँ हैं। राजस्थानी उपभाषा के अन्तर्गत मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाती और मालवी बोलियाँ हैं। पहाड़ी हिन्दी उपभाषा के अन्तर्गत गढ़वाली और कुमाउँनी बोलियाँ हैं। पूर्वी हिन्दी उपभाषा के अन्तर्गत अवधी, बघेली और छत्तीस-गढ़ी बोलियाँ हैं। इसी प्रकार बिहारी उपभाषा के अन्तर्गत भोजपुरी, मगही और मैथिली बोलियाँ हैं। उपभाषा का क्षेत्र बोली से विस्तृत होता है और भाषा से छोटा। एक उपभाषा दूसरी उपभाषा के लिए उसी प्रकार बोधगम्य होती है जिस प्रकार एक बोली दूसरी बोली के लिए।

राष्ट्रभाषा :

राष्ट्रभाषा का शाब्दिक अर्थ है राष्ट्र की भाषा । इस तरह एक राष्ट्र की सभी भाषाएँ राष्ट्रभाषाएं हैं। किन्तु इस शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। जो भाषा समूचे राष्ट्र में अधिकाधिक व्यक्तियों के लिए विचार-विनिमय का माध्यम हो उसे राष्ट्रभाषा कहते

हैं। शासन की दृष्टि से एक राष्ट्र में कई विभाग हो सकते हैं; अलग-अलग विभागों की अलग-अलग भाषाएँ हो सकती हैं; किन्तु जिस भाषा के माध्यम से एक विभाग या भाषा के लोग दूसरे विभाग या भाषा के लोगों से व्यवहार करते हैं वह राष्ट्रभाषा है। उदाहरण के लिए भारत में सत्रह या अठारह विभाग हैं और पन्द्रह प्रमुख भाषाएँ प्रचलित हैं। विभिन्न विभागों के लोग एक दूसरे से विचार-विनिमय हिन्दी में करते हैं; अतः हिन्दी राष्ट्रभाषा है। इसी प्रकार रूस में भी कई शासन-विभाग हैं और कई भाषाएँ हैं, किन्तु रूसी वहाँ के अन्तर्विभागीय विचार-विनिमय का माध्यम है, इसलिए वह राष्ट्रभाषा है । राष्ट्र की अन्य भाषाओं को राज्यभाषा या प्रान्तीय भाषा कहते हैं । राष्ट्रभाषा का महत्त्व सर्वोपरि होता है और यह राष्ट्रीय गौरव का चिह्न माना जाता है । राष्ट्रभाषा राष्ट्रीयता से सम्बन्धित होती है। प्रत्येक देश दूसरे देश की राष्ट्रभाषा को अपने यहाँ मान्यता प्रदान करता है और उसे सम्मान की दृष्टि से देखता है। राष्ट्रभाषा, राष्ट्रगान और राष्ट्रीय झण्डे की तरह राष्ट्रीयता की द्योतक और सम्मान के योग्य होती है ।

राजभाषा :

राजभाषा उसे कहते हैं जो समूचे देश की शासकीय सेवा के लिए प्रयुक्त होती है। किसी देश की शासन-सेवाएँ दो भागों में विभाजित होती हैं—केन्द्रीय सेवाएँ और प्रान्तीय सेवाएँ। प्रान्तीय सेवाओं के लिए प्रान्तीय भाषा का प्रयोग होता है, किन्तु केन्द्रीय सेवाओं के लिए जिस भाषा का प्रयोग होता है, उसे राजभाषा कहते हैं। उदाहरण के लिए हम अपने राष्ट्र भारत को देख सकते हैं। विभिन्न प्रान्तों में पुलिस, स्वास्थ्य, कचहरी, माध्यमिक शिक्षा आदि के लिए वहाँ की प्रान्तीय भाषा का प्रयोग होता है, किन्तु रेल, तार, डाक, रेडियो आदि के लिए अब तक अंग्रेजी का प्रयोग होता रहा है। अतः अंग्रेजी राजभाषा थी । उसके स्थान पर लोग हिन्दी का प्रयोग करने में प्रयत्नशील हैं। जब अंग्रेजी के

स्थान पर हिन्दी का प्रयोग होने लगेगा तब हिन्दी राजभाषा कही जायगी। किसी राज्य (प्रान्त) में प्रयुक्त होने वाली प्रान्तीय भाषा को भी लोग राजभाषा कहते हैं। जैसे मराठी महाराष्ट्र की और गुजराती गुजरात की राजभाषा है, किन्तु इसे राजभाषा न कहकर राज्यभाषा कहना चाहिए। इस तरह से राजभाषा और राज्यभाषा में स्पष्ट अन्तर प्रगट होगा।

कुछ लोगों को राष्ट्रभाषा और राजभाषा में स्पष्ट अन्तर ज्ञात नहीं होता। वे लोग दोनों को एक समझते हैं। किन्तु इन दोनों में स्पष्ट अन्तर है जो ऊपर बताया गया है। प्रायः ऐसा होता है कि किसी देश में राष्ट्र-भाषा और राजभाषा एक ही होती है। जैसे रूस में रूसी राष्ट्रभाषा भी है और राजभाषा भी। स्वतन्त्रता के बाद भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी हुई, किन्तु राजभाषा के रूप में अंग्रेजी बनी रही। अब धीरे-धीरे अंग्रेजी का स्थान हिन्दी लेती जा रही है। राजभाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग प्रचलित हो जाने पर भारत की राष्ट्रभाषा और राजभाषा एक ही हो जायगी।

इसके अलावा भाषा के कुछ और रूप भी होते हैं; जैसे कृत्रिम भाषा, कूट भाषा आदि। किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिए कुछ लोग मिल कर जब किसी भाषा का निर्माण कर लेते हैं, तो उसे कृत्रिम भाषा कहते हैं। संसार भर में एक सामान्य भाषा प्रचलित करने के हेतु से 'एस्पेरेन्तो' नाम की भाषा बनायी गयी है। कूट भाषा को कुछ सीमित लोग ही समझ सकते हैं। एक प्रकार से वह संकेत भाषा होती है। इसी तरह समाज के अलग-अलग स्तर पर कार्य करने वाले वर्गों की भाषा में भी भिन्नता होती है; जैसे वकीलों की भाषा, व्यापारियों की भाषा, फेरी वालों की भाषा आदि। किन्तु इनमें उनके कार्य से सम्बन्धित कुछ शब्दा-वली अलग होती है, मूल भाषा में कोई अन्तर नहीं होता। इस प्रकार समाज में भाषा के कई रूप प्रचलित होते हैं।

: २ :

भाषा-विज्ञान और उसके अंग

भाषा-विज्ञान

भाषा-विज्ञान, भाषा का विज्ञान है। इसके अन्तर्गत भाषा का वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। यद्यपि भाषा का ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिए बड़ा सहज है, किन्तु इसका ढाँचा बहुत ही उलझा हुआ होता है। भाषा-विज्ञान, भाषा के उलझे हुए अनेक पहलुओं का सुलझाव, एक विशिष्ट पद्धति द्वारा प्रस्तुत करता है। सामाजिक वस्तु होने के कारण समाज के साथ भाषा भी परिवर्तित होती रहती है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में भाषा के विभिन्न रूप हो जाते हैं। भाषा-विज्ञान, इन विभिन्न रूपों का अध्ययन करके कुछ सामान्य सिद्धान्तों का निर्धारण करता है और उनके अनुसार इन रूपों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करता है। इस प्रकार किसी भाषा के सम्पूर्ण विकास-क्रम का अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत भाषा के प्रमुख अंग—ध्वनि, पद, वाक्य और अर्थ—का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। किसी विशिष्ट भाषा में कितनी ध्वनियाँ हैं, उन ध्वनियों की व्यवस्था किस प्रकार की है, अर्थ-परिवर्तन की प्रवृत्ति और कारण क्या हैं? आदि बातों का अध्ययन भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत होता है। किसी भाषा-विशेष के क्षेत्र में कुछ स्थानीय बोलियाँ होती हैं। उन बोलियों के कौन-से तत्त्व उस भाषा-विशेष में मिलते हैं और उन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध किस सीमा तक होता है? इसका भी अध्ययन भाषा-विज्ञान के

अन्तर्गत होता है। एक प्रकार से भाषा-विज्ञान में भाषा का सर्वाङ्गीण विवेचन और विश्लेषण वैज्ञानिक आधार पर किया जाता है।

आजकल भाषा-विज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है। विज्ञान की प्रगति के कारण भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन, भाषा के विभिन्न पहलुओं को अपने अन्दर समेटता जा रहा है। वैसे, अत्यधिक वैज्ञानिकता के कारण भाषा के अध्ययन में नयी-नयी जटिलताएँ आती जा रही हैं, किन्तु दूसरी तरफ यह लाभ भी है कि बहुत-सी प्रारम्भिक कठिनाइयाँ समाप्त होती जा रही हैं और कई जटिलताएँ सरलता के रूप में बदलती जा रही हैं। अब तो भाषा के माध्यम से मनुष्य-जाति का इतिहास, उसकी संस्कृति और उसके जीवन के विभिन्न सामाजिक पक्षों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। आज भाषा-विज्ञान, मनुष्य के अध्ययन के लिए अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक विषय बन गया है।

भाषा-विज्ञान, विज्ञान है या कला ?

ज्ञान दो प्रकार का माना जाता है—प्राकृतिक और प्रयत्न-साध्य। प्राकृतिक ज्ञान उसे कहते हैं जो प्राणियों को अपने आप प्राप्त होता है; जैसे तैरना, उड़ना, बोलना आदि। प्रयत्न-साध्य ज्ञान के दो भेद हैं :—विज्ञान और कला। विज्ञान का अर्थ होता है विशिष्ट ज्ञान। किसी भी वस्तु का विशिष्ट अथवा युक्ति सहित ज्ञान प्राप्त करना ही विज्ञान है। विज्ञान अपने आप में कोई विषय नहीं है, बल्कि यह एक दृष्टि है, ज्ञान की विशिष्ट पद्धति है। कला सौन्दर्यानुभूति की विशिष्ट अभिव्यक्ति है। इसमें भी वस्तुओं के प्रति देखने की एक विशिष्ट दृष्टि होती है, किन्तु विज्ञान की दृष्टि विश्लेषणात्मक होती है जब कि कला की दृष्टि आशंसात्मक। विज्ञान का उद्देश्य होता है ज्ञानार्जन, जब कि कला का मनोरंजन। विज्ञान केवल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है और सत्य का अन्वेषण करता है, कला रचनात्मक होती है और मानव के भावना-जगत् के सत्य का उद्घाटन करती है।

ऊपर के विवेचन से विज्ञान और कला का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से देखने पर पता चलेगा कि भाषा-विज्ञान कला नहीं है, बल्कि विज्ञान है। किन्तु देखना यह है कि भाषा-विज्ञान अन्य विज्ञानों की तरह ही शुद्ध विज्ञान है या कुछ भिन्न है ?

विज्ञान का सर्वप्रमुख लक्षण है कि वह पदार्थों में कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना करता है। किसी कारण विशेष के उपस्थित रहने पर ही कार्य विशेष होता है। विज्ञान इस बात की खोज करता है कि अगर कोई घटना घटती है या कोई कार्य होता है, तो उसका कारण क्या है ? या कारण प्रस्तुत होने पर भी कार्य विशेष क्यों नहीं होता है ? कार्य-कारण-परम्परा की इस दिशा में वैज्ञानिक वहाँ तक पहुँचने का प्रयत्न करता है जहाँ तक मानव-बुद्धि की गति सम्भव है। कार्य-कारण-भाव के विश्लेषण से बिखरी हुई वस्तुओं और असम्बद्ध घटनाओं में एक संगति या तारतम्य स्थापित होता है। अतः एक विशेष व्यवस्था या सम्बद्धता विज्ञान का मूल आधार है। भाषा में भी बिखरी हुई सामग्री को एकत्र करके, उसका विश्लेषण करके इसी प्रकार की व्यवस्था और सम्बद्धता के स्थापन का प्रयत्न होता है। कोई ध्वनि किसी विशिष्ट दिशा में ही क्यों परिवर्तित होती है, इसके कारण की खोज करते हैं और कार्य-कारण-सम्बन्ध से ध्वनि-परिवर्तन की व्यवस्था स्पष्ट करते हैं। अतः विज्ञान के मूल आधार कार्य-कारण-भाव का प्रयोग भाषा-विज्ञान में भी होता है।

विज्ञान का दूसरा प्रमुख लक्षण है प्रयोग। चिन्तन और विचार के पश्चात् प्रयोगों द्वारा वैज्ञानिक विश्लेषण को प्रामाणिक बनाया जाता है। भाषा के लिए भी प्रयोग किये जाते हैं। ध्वनिशास्त्र की प्रयोगशाला में ध्वनि सम्बन्धी अनेक प्रयोग होते रहते हैं। किसी भाषा की ध्वनियों के लक्षणों का ठीक-ठीक पता प्रयोग से ही लग पाता है। भाषा की उत्पत्ति का पता लगाने के लिए शिशुओं पर अनेक प्रकार के प्रयोग हुए ही हैं।

तीसरा प्रमुख लक्षण यह है कि विज्ञान में विकल्प नहीं होते। विज्ञान का परिणाम सार्वकालिक और सार्वत्रिक होता है। विज्ञान के प्रयोग हम कहीं भी करें, हमें एकसे ही परिणाम प्राप्त होते हैं। कुछ लोगों के अनुसार भाषा-विज्ञान में यह लक्षण लागू नहीं होता। उनके अनुसार ध्वनि-परिवर्तन के नियम सभी भाषाओं में एकसे नहीं होते। किन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि विभिन्न भाषाएँ अलग-अलग होती हैं और उन सब पर एक ही नियम कैसे लागू हो सकता है? ध्वनि-परिवर्तन के कारण सभी भाषाओं में एकसे हो सकते हैं, परन्तु ध्वनि-परिवर्तन के परिणाम भी सभी में एकसे हों, यह कैसे हो सकता है? अत्यधिक ठंढक में पानी जम जाता है, किन्तु मिट्टी तो नहीं जमती। इसी तरह एक प्रकार के नियम एक ही भाषा पर लागू हो सकते हैं, सभी भाषाओं पर नहीं। जिस प्रकार अनेक तत्त्वों से रचित भौतिक पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न होते हैं, उसी प्रकार अनेक प्रकार की व्यवस्थाओं से संघटित भाषाएँ भी एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त भाषा-विज्ञान अन्य विज्ञानों की अपेक्षा नया विज्ञान है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि उसकी उपलब्धि अन्य विज्ञानों की अपेक्षा कम व्यवस्थित और कम नियमित हो।

इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा-विज्ञान पूर्णरूप से विज्ञान ही है। नया और अविकसित होने के कारण यह उस तरह का विज्ञान नहीं लगता जिस तरह के गणित और भौतिक शास्त्र आदि। वैसे ज्ञान की अनेक शाखाएँ ऐसी हैं जिनमें विज्ञान के पूरे लक्षण न घटित होने पर भी विज्ञान कहे जाते हैं; जैसे राजनीति-विज्ञान, समाज-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि। भाषा-विज्ञान में विज्ञान के सभी लक्षण घटित होते हैं, परन्तु कहीं-कहीं कुछ अपवाद मिल जाते हैं, और इसीलिए हम इसे विशुद्ध विज्ञान नहीं कह पाते। अब भाषा के अध्ययन की प्रवृत्ति अधिकाधिक वैज्ञानिक होती जा रही है और सम्भव है कि कुछ दिनों में इसमें अपवाद न रह जायँ। ऋतु-विज्ञान को विशुद्ध विज्ञान कहा जाता

है, किन्तु कभी-कभी उसके परिणामों में भी वैकल्पिकता आ जाती है। इसी प्रकार से भाषा-विज्ञान को भी विज्ञान ही मानना चाहिए, भले ही एकाध स्थान पर उसके नियमों और परिणामों में अपवाद हों। समग्र दृष्टि से विचार करने पर भाषा-विज्ञान विज्ञान ही कहा जायेगा, कला नहीं।

भाषा-विज्ञान का उपयोग

प्रायः स्वाभाविक ढंग से यह प्रश्न उठता है कि भाषा-विज्ञान के अध्ययन से क्या लाभ होता है ? इसका हमारे लिए क्या उपयोग है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि किसी भी शास्त्र के पढ़ने से जो लाभ होता है वही लाभ भाषा-विज्ञान से भी होता है। पहली बात तो यह है कि इसके अध्ययन से मनुष्य की नैसर्गिक ज्ञान-पिपासा तृप्त होती है और ज्ञान प्राप्त करने का सहज आनन्द प्राप्त होता है। दूसरा उपयोग यह है कि भाषा-विज्ञान के अध्ययन से भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। जिस वस्तु का उपयोग हम जीवन के अभिन्न अंग के रूप में करते हैं उसके विषय में अच्छी जानकारी प्राप्त करना हमारा कर्त्तव्य होता है। भाषा क्या है, वह परिवर्तित क्यों होती रहती है, हर आदमी की बोली में अन्तर क्यों आ जाता है, शब्दों के विभिन्न अर्थ कैसे हो जाते हैं ? आदि रोचक प्रश्नों का उत्तर हम भाषा-विज्ञान से ही प्राप्त कर सकते हैं।

भाषा-विज्ञान का तीसरा उपयोग यह है कि इसके अध्ययन से हम भाषा की शुद्धता और साधु प्रयोग के बारे में जान जाते हैं। शुद्ध उच्चारण, शुद्ध प्रयोग आदि भाषा-विज्ञान से हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। चौथा उपयोग यह है कि भाषा के अध्ययन द्वारा समाज के इतिहास और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। समाज के विकास का प्रभाव भाषा के विकास पर भी पड़ता है। अतः भाषा के माध्यम से सामाजिक विकास की प्रक्रिया आसानी से समझी जा सकती है।

भाषा-विज्ञान का सबसे अधिक उपयोग संचार के साधनों को उन्नत बनाने में है। दूरसंचार और यान्त्रिक अनुवाद, भाषा-विज्ञान के परिणामों पर ही आधारित होते हैं। टाइपराइटर, शार्टहैण्ड आदि के निर्माण और समुन्नत बनाने के लिए भी भाषा-विज्ञान मदद करता है। आजकल नयी-नयी भाषाओं को सीखने में भाषा-विज्ञान का बहुत बड़ा योग है। भाषा-विज्ञान की प्रयोगशाला में बैठकर टेप द्वारा दुनिया की किसी भी भाषा को उतनी ही दक्षता के साथ सीखा जा सकता है। बच्चों तथा अन्य भाषा-भाषियों के लिए क्रमिक पुस्तकों के निर्माणार्थ भाषा-विज्ञान मूल-भूत शब्दावली देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार भाषा हमारे लिए एक अनिवार्य अंग है, उसी प्रकार भाषा-विज्ञान का उपयोग भी आज हमारे लिए बहुत अधिक है।

भाषा-विज्ञान के अंग

भाषा का विश्लेषण करने के लिए यदि हम उसे विभाजित करना चाहें तो वाक्य भाषा की प्रमुख इकाई के रूप में दिखायी पड़ेंगे। वाक्य को हम और छोटे टुकड़ों में विभाजित करें तो हमें पद मिलेंगे। पदों को विभाजित करने के पश्चात् ध्वनि इकाई के रूप में मिलती है। ध्वनि को और अधिक विभाजित नहीं किया जा सकता। अतः भाषा की सबसे छोटी इकाई ध्वनि है। ये विभाजन भाषा के रूप से सम्बन्धित हैं जिन्हें हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं, किन्तु इसके अलावा भी भाषा में एक तत्त्व होता है जिसे हम देख नहीं पाते, और वह है अर्थ। अर्थ; ध्वनि, पद और वाक्य में अदृश्य रूप से वर्तमान रहता है। इस प्रकार भाषा के चार प्रमुख अंग हुए—ध्वनि, पद, वाक्य और अर्थ। इन्हीं के आधार पर भाषा-विज्ञान के भी चार प्रमुख अंगों (शाखाओं) का निर्माण हुआ है—ध्वनि-विज्ञान, पद-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान। नीचे संक्षेप में इनका परिचय दिया जा रहा है।

ध्वनि-विज्ञान—ध्वनि-विज्ञान, भाषा-विज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत वाक्-ध्वनियों का अध्ययन किया जाता है। ध्वनि, भाषा की सबसे छोटी इकाई है और ध्वनिसमूह से ही भाषा का निर्माण होता है। ध्वनि का निर्माण किस प्रकार होता है, ध्वनि-यन्त्र के प्रमुख अवयव कौन-कौन से हैं और ध्वनि-उत्पादन में वे क्या कार्य करते हैं आदि बातों का अध्ययन इसके अन्तर्गत होता है। बाहर आती हुई श्वास-वायु को मुख-विवर में अवरुद्ध करके विभिन्न प्रकार की ध्वनियों का निर्माण किया जाता है। ध्वनि-विज्ञान में हम यह भी अध्ययन करते हैं कि इन ध्वनियों का वर्गीकरण किन-किन आधारों पर किया जाता है और प्रत्येक ध्वनि की क्या विशेषता होती है? ध्वनि-विज्ञान के अन्तर्गत ही स्वरों और व्यंजनों के विभिन्न कार्यों और रूपों का अध्ययन किया जाता है। परिवर्तनशील भाषा में परिवर्तित होने वाला मुख्य तत्त्व है ध्वनि। ये ध्वनियाँ किस दिशा में परिवर्तित होती हैं, इनके परिवर्तन के कारण क्या हैं आदि बातों का भी अध्ययन ध्वनि-विज्ञान में ही किया जाता है। भाषा में आघात, सुर आदि भी महत्त्वपूर्ण होते हैं जो ध्वनि-विज्ञान की सीमा के अन्तर्गत आते हैं। एक प्रकार से ध्वनि-विज्ञान ही भाषा-विज्ञान का मूल आधार है। भाषा का अध्ययन किसी भी दृष्टि से किया जाय अथवा भाषा के किसी भी पहलू का अध्ययन किया जाय; ध्वनि-विज्ञान का ज्ञान उसके लिए परमावश्यक है। भाषा-विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान जार्ज सैम्पसन का तो यहाँ तक कथन है कि "ध्वनि-विज्ञान से अनभिज्ञ भाषा-शिक्षक वैसे ही निरर्थक है जैसे शरीर-विज्ञान से अनभिज्ञ डॉक्टर।"

पद-विज्ञान—ध्वनियों के समूह से शब्द बनता है और शब्दों के समूह से वाक्य। किन्तु वाक्य में मात्र शब्दों का समूह नहीं होता। बच्चा, लेखनी, कागज और लिखना; शब्दों का एक समूह है, पर यह वाक्य नहीं है। यदि हम इसे ऐसा कहें कि 'बच्चे ने लेखनी से कागज पर लिखा' तो वाक्य बनेगा। अतः इस वाक्य में दो प्रकार की चीजें हैं : एक तो मात्र अर्थ देने वाले शब्द; जैसे बच्चा, लेखनी, कागज और लिखना तथा

दूसरे इन शब्दों का परस्पर सम्बन्ध जोड़ने वाले ने, से, पर और क्रिया का भूतकाल। पहले प्रकार को अर्थ-तत्त्व और दूसरे प्रकार को सम्बन्ध-तत्त्व कहते हैं। अर्थ-तत्त्व में सम्बन्ध-तत्त्व जुड़ जाने के पश्चात् जब शब्द वाक्य में प्रयुक्त हो जाने लायक हो जाता है तब उसे पद कहते हैं। बच्चा, लेखनी, कागज और लिखना केवल शब्द हैं, किन्तु बच्चे ने, कागज पर, लेखनी से तथा लिखा पद हैं। पद-विज्ञान में पदों के रूप और निर्माण का विवेचन होता है। कोश में हजारों शब्द होते हैं, किन्तु हम उनका प्रयोग भाषा में वैसे ही नहीं करते। उनमें कुछ परिवर्तन करते हैं। उदाहरणार्थ कोश का शब्द है लिखना, किन्तु भाषा में प्रयोग करते समय हम इसके परिवर्तित रूप—लिखता, लिखती; लिखते, लिखा, लिखी, लिखे, लिखें; लिखूंगा, लिखूंगी, लिखोगे, लिखेगा, लिखेगी, लिखेंगी; लिख, लिखावट आदि का प्रयोग करते हैं। यह परिवर्तित रूप ही पद है। शब्द और पद का भेदक तत्त्व प्रत्यय या विभक्तियाँ हैं। ये प्रत्यय कितने प्रकार के होते हैं, शब्दों में किस प्रकार जुड़ते हैं, शब्दों में जुड़कर किन-किन व्याकरणिक कोटियों का संकेत करते हैं, आदि बातों का अध्ययन पद-विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है; जैसे हिन्दी का क्रिया-पद 'लिखा' वचन, लिंग और काल एक साथ सूचित करता है जब कि अंग्रेजी का 'रोट' (Wrote) केवल भूतकाल सूचित करता है। पद-विज्ञान द्वारा भाषा की प्रकृति की पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

वाक्य-विज्ञान—भाषा की सार्थक न्यूनतम इकाई वाक्य है। जब तक वाक्य का प्रयोग नहीं होता तब तक किसी अर्थ का सम्प्रेषण नहीं होता। मात्र शब्दों या पदों से किसी अर्थ का सम्प्रेषण नहीं किया जा सकता। अतः अर्थ की दृष्टि से, भाषा में, वास्तविक महत्त्व वाक्य का है। वाक्य व्याकरणिक दृष्टि से व्यवस्थित वह शब्द-समूह है जो पूरा अर्थ स्पष्ट कर सके। वाक्य-विज्ञान, भाषा-विज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत पदों के पारस्परिक सम्बन्ध और शब्दों के संयोजन पर विचार किया जाता है। वाक्य में शब्दों का क्रम क्या हो, किसी विशेष पद के

लिए विशेष स्थान की अनिवार्यता क्यों होती है, वाक्यों का वर्गीकरण किन-किन आधारों पर किया जा सकता है, किसी विशिष्ट भाव की अभिव्यक्ति के लिए आघात, सुर आदि का स्थान वाक्य के किस भाग पर होता है ? आदि बातों का अध्ययन इसके अन्तर्गत किया जाता है। प्रायः पद-विज्ञान और वाक्य-विज्ञान बहुत कुछ मिले-जुले-से दिखायी पड़ते हैं, किन्तु दोनों में स्पष्ट अन्तर है। पद-विज्ञान में केवल इकाई के रूप में प्रयुक्त पदों का विश्लेषण किया जाता है और वाक्य-विज्ञान में उसके सामूहिक रूप की दृष्टि से विचार किया जाता है। ध्वनि का सम्बन्ध उच्चरित भाषा से है जो प्रमुख रूप से शारीरिक व्यापार है। पद में ध्वनि और अर्थ दोनों का समावेश होता है, अतः शारीरिक और मानसिक दोनों पक्ष कार्य करते हैं। वाक्य पूर्णरूप से मानसिक तत्त्व है और उसमें पदों का प्रयोग विचारों या भावों के अनुसार होता है। इस प्रकार वाक्यों का अध्ययन मनोवैज्ञानिक ढंग से भी किया जाता है।

अर्थ-विज्ञान—अर्थ-विज्ञान भाषा-विज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत अर्थ का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। भाषा में अर्थ ही प्रमुख तत्त्व है। अर्थ की प्रेषणीयता ही भाषा का उद्देश्य है। अर्थ साध्य है और भाषा साधन। हम जो कुछ (अर्थ) कहना चाहते हैं वह भाषा के माध्यम से कहते हैं। अर्थ के अभाव में भाषा का कोई महत्त्व नहीं होता। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि भाषा; अमूर्त अर्थ का मूर्त रूप है। अर्थ आत्मा है और भाषा शरीर। अर्थ क्या है, अर्थ का स्वभाव क्या है, अर्थ का ज्ञान कैसे होता है, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध किस प्रकार का है, अर्थ-परिवर्तन की प्रवृत्ति क्या होती है, अर्थ-परिवर्तन के कौन-कौन से कारण होते हैं ? आदि बातों का अध्ययन अर्थ-विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है। चूँकि शब्दों की अपेक्षा अर्थ अधिक होते हैं और अर्थ की कोई सीमा भी नहीं है, इसलिए कुछ विद्वानों का विचार है कि अर्थ का वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं हो सकता। यही कारण है कि आधुनिक भाषा-विज्ञान में अर्थ-विज्ञान को बहुत अधिक महत्त्व

नहीं दिया जाता। किन्तु इस बात से कोई भी इनकार नहीं कर सकता कि अर्थ भाषा का एक प्रमुख अंग है और भाषा-विज्ञान के प्रमुख अंगों में भी इसकी प्रमुखता होनी चाहिए।

इसके अलावा भाषा-विज्ञान के और भी कुछ अंग हैं जो गौण हैं; जैसे बोली-विज्ञान और कोश-विज्ञान। बोली-विज्ञान में किसी भाषा के वैभाषिक रूप का अध्ययन क्षेत्रीय दृष्टि से किया जाता है। इसे बोली-भूगोल भी कहते हैं। कोश-विज्ञान में कोश-निर्माण की प्रक्रिया, शब्दों की व्युत्पत्ति, शब्दों का अर्थ-निर्धारण, शब्दक्रम आदि का अध्ययन किया जाता है। जैसे-जैसे भाषा-अध्ययन की सीमाएँ और संभावनाएँ बढ़ती जा रही हैं वैसे-वैसे भाषा-विज्ञान के नये-नये अंगों या शाखाओं का निर्माण होता जा रहा है।

: ३ :

भाषा-विज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान एक विशाल वट-वृक्ष की तरह है। उसमें से फूटने वाली अनेक शाखाएँ वृक्ष की शाखाओं की भाँति हैं, ज्ञान की उप-शाखाएँ टहनियों की तरह और एक-एक शास्त्र या विषय पत्तों की तरह। ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में वही सम्बन्ध है जो वृक्ष की शाखाओं, टह-नियों और पत्तों में है। वैसे तो ज्ञान अखण्ड है, किन्तु अध्ययन की सुविधा के लिए इसकी विभिन्न शाखाएँ वना ली गयी हैं। एक शाखा का दूसरी शाखा से कभी सम्बन्ध होता है, कभी नहीं भी होता है। अध्ययन के लिए जो इतने शास्त्र या विज्ञान वने हैं उनमें से कुछ का पारस्परिक सम्बन्ध है और कुछ का नहीं। उदाहरण के लिए भौतिकशास्त्र का काव्यशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, किन्तु इतिहास और अर्थशास्त्र का सम्बन्ध हो सकता है। भाषा-विज्ञान का कुछ शास्त्रों या विज्ञानों के साथ सम्बन्ध है और कुछ के साथ नहीं। जिन विषयों का भाषा-विज्ञान से सम्बन्ध है वे भाषा-विज्ञान को प्रभावित करते हैं और स्वयं भाषा-विज्ञान से प्रभावित होते हैं। अतः नीचे उन विषयों की चर्चा की जा रही है जिनका भाषा-विज्ञान से सम्बन्ध है।

समाजशास्त्र :

समाजशास्त्र में समाज और सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य के आचार-विचार कैसे होने चाहिए,

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध किस प्रकार का हो, समाज के निर्माण और विकास के लिए व्यक्ति क्या करता है ? आदि बातों की चर्चा समाजशास्त्र में की जातो है। भाषा सामाजिक सम्पत्ति है और वह समाज में ही विकसित होती है। समाज के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। वहुत हद तक भाषा ही सामाजिकता को जन्म देती है। समाज में जो भी परिवर्तन होते हैं भाषा में भी उसी प्रकार के परिवर्तन लक्षित होने लगते हैं। भाषा द्वारा भी समाज के कई पहलुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। अशुभ चीजों का नाम क्यों नहीं लिया जाता, पति के जीवित रहने पर दुखी होते हुए भी स्त्री सौभाग्यवती क्यों कही जाती है ? आदि प्रश्नों का उत्तर हमें समाजशास्त्र वड़ी आसानी से देगा। भाषा-विज्ञान और समाजशास्त्र दोनों मनुष्य-जाति से ही सम्बन्धित हैं। भाषा-विज्ञान का क्षेत्र सीमित है जबकि समाजशास्त्र का विस्तृत। भाषा-विज्ञान केवल मनुष्य की भाषा का अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र मनुष्य के सभी सामाजिक परिप्रेक्ष्य को देखता है। इस अन्तर के होते हुए भी दोनों विज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं।

मनोविज्ञान :

मनोविज्ञान मानव-मन का विश्लेषण करता है। मनुष्य के विचारों और भावों का सम्वन्ध मन से होता है। वाह्य जगत् का प्रत्यक्ष प्रभाव मन पर पड़ता है जिसकी अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से होती है। यह अभिव्यक्ति एक प्रकार से मन की वाचिक प्रतिक्रिया है। मन में सोचने की प्रक्रिया भाषा के माध्यम से ही होती है। अतः भाषा, मानसिक और वाह्य दोनों रूपों में विचारों की वाहिनी होतो है। अर्थ-विज्ञान वहुत कुछ मनोविज्ञान पर आधारित है। ध्वनि-परिवर्तन का कारण जानने के लिए भी कभी-कभी मनोविज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। मनोविज्ञान भी भाषा-विज्ञान की सहायता लेता है। कभी-कभी बच्चों या अर्ध विक्षिप्त लोगों के विचारों का विश्लेषण करने के लिए भाषा-विज्ञान की सहायता

ली जाती है। जैसा कहा जा चुका है अर्थ-परिवर्तन के कारणों का पता लगाने के लिए मनोविज्ञान काफी मदद करता है। कोई अर्थ क्यों सीमित हो जाता है, क्यों विस्तृत हो जाता है? आदि को समझने के लिए सामाजिक मनोविज्ञान का अध्ययन बहुत उपयोगी हो सकता है। इस प्रकार से भाषा-विज्ञान और मनोविज्ञान का सम्बन्ध बहुत ही समीप का है।

शरीर-विज्ञान :

शरीर-विज्ञान के अन्तर्गत शरीर-रचना का अध्ययन किया जाता है। भाषा के लिए शरीर-रचना के एक प्रमुख भाग का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। भाषा के लिए दो व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, एक वक्ता और दूसरा श्रोता। पहले वक्ता के मन में विचार उठते हैं जिन्हें वह वागिन्द्रियों द्वारा व्यक्त करता है। ये विचार हवा की लहरों से श्रोता के पास तक पहुँचते हैं और उसके कानों में पहुँचकर उसके अर्थ का बोध कराते हैं। ध्वनि का उत्पादन और उसका श्रवण शरीर-विज्ञान से सम्बन्धित है। भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत हम यह अध्ययन करते हैं कि श्वासवायु बाहर निकलते हुए मुख-विवर में कहीं टकराती है और इस प्रकार ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। ध्वनि-उत्पादन की इस प्रक्रिया को समझने के लिए मुख और गले के अन्दर के अवयवों की स्थिति को ठीक-ठीक समझना पड़ता है। रोचक बात यह है कि वागिन्द्रियों का प्रमुखकार्य ध्वनि-उत्पादन नहीं; बल्कि कुछ और है। ओंठ, दाँत, जीभ, गले का कार्य शारीरिक रक्षा और पोषण है। इसी प्रकार स्वर को ऊँचा-नीचा करने से स्वरतंत्री कैसे खिचती और शिथिल होती है, किसी अन्य भाषा की ध्वनि को उच्चरित करने के लिए हम वागिन्द्रियों को कैसे मरोड़ते हैं? आदि का ज्ञान बिना शरीर-विज्ञान के जाने नहीं हो सकता। शरीर-विज्ञान के लिए भी भाषण और श्रवण-प्रक्रिया के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। इस तरह भाषा-विज्ञान का शरीर-विज्ञान से बहुत गहरा सम्बन्ध है।

इतिहास :

इतिहास और भाषा-विज्ञान का बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। ऐतिहासिक सामग्री का अध्ययन करने के लिए भाषा-विज्ञान बहुत सहायता करता है। पुराने शिलालेख, हस्तलेख और सिक्के आदि भाषा-विज्ञान के माध्यम से ही पढ़े जाते हैं जो पुराने इतिहास की रचना करते हैं। हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो से प्राप्त अभिलेखों को पढ़ने के लिए भाषा-विज्ञानी अभी भी प्रयत्नशील हैं। पुरानी भाषा के आधार पर किसी वस्तु का काल-निर्धारण किया जा सकता है और उस काल के इतिहास पर प्रकाश डाला जा सकता है। इसी तरह इतिहास भी भाषा-विज्ञान के लिए बहुत उपयोगी होता है। भाषा-विज्ञान की विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के लिए इतिहास मदद करता है। भारतीय भाषाओं में अरबी, फारसी या अंग्रेजी के जो हजारों शब्द प्राप्त होते हैं इतिहास उसका कारण बतलाता है। आज बहुत दूर की भाषाओं में भी दूसरी-दूसरी भाषाओं के जो शब्द प्राप्त होते हैं उनके सम्बन्ध की जिज्ञासा इतिहास द्वारा हल होती है। भारत के बाहर दूर-दूर तक की भाषाओं में जो संस्कृत के शब्द मिलते हैं उसके लिए इतिहास पुराने भारत की स्थिति को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार से इतिहास और भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

भूगोल :

भूगोल देशों की प्राकृतिक सीमा, जलवायु, उपज आदि का अध्ययन करता है, किन्तु उसका एक पक्ष भाषा-विज्ञान के लिए बहुत ही उपयोगी होता है। किसी भाषा की सीमाएँ छोटी या बड़ी क्यों होती हैं, इस प्रश्न का उत्तर भूगोल सहज ही देता है। नदी, पहाड़, आवागमन की सुविधा, जनसंख्या की सघनता और विरलता आदि भाषाओं की सीमा निर्धारित करने में प्राकृतिक कारण हैं। हिन्दी भाषा के व्यापक प्रसार का कारण समतल मैदान का होना है। पहाड़ों के बीच में छोटी-छोटी

बोलियाँ होती हैं, क्योंकि पहाड़ और नदियाँ उन बोलियों को फैलने नहीं देतीं। पहाड़ों और नदियों से घिरी भाषाओं में परिवर्तन बहुत कम होता है, क्योंकि आवागमन की सुविधा न होने के कारण बाहर के तत्त्व नहीं आ पाते। इस तरह भाषा के निर्माण, परिवर्तन और विस्तार पर भूगोल का प्रभाव पड़ता है। आधुनिक भाषा-विज्ञान में भाषाओं और बोलियों का सीमा-निर्धारण भूगोल की सहायता से ही किया जाता है। कुछ स्थानों पर कई बोलियाँ आकर मिलती हैं और उस स्थान की भाषा में दो-दो, तीन-तीन भाषाओं की विशेषताएँ दिखायी देने लगती हैं। बोलियों की सीमा-निर्धारण करने के लिए वहाँ की भौगोलिक स्थिति पर भी विचार किया जाता है। इस स्थिति का अध्ययन करने के लिए भाषा-विज्ञान के अन्तर्गत एक उपशाखा का विकास हुआ है जिसे बोली-भूगोल कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा-विज्ञान और भूगोल एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

व्याकरण :

व्याकरण किसी भाषा के तत्कालीन स्वरूप और नियमों का निर्देश करता है। शुद्ध बोलने और लिखने के लिए वह नियम बतलाता है। एक प्रकार से वह भाषा का विवरण प्रस्तुत करता है। भाषा-विज्ञान भाषा के रूपों और नियमों का कारण भी बतलाता है। व्याकरण का सम्बन्ध केवल एक भाषा से होता है और उसमें किसी एक काल में प्रचलित नियमों का निर्देश किया जाता है जब कि भाषा-विज्ञान सामान्य रूप से सभी भाषाओं से सम्बन्धित होता है और उसके नियम तथा सिद्धान्त व्यापक होते हैं। एक प्रकार से भाषा-विज्ञान व्याकरण द्वारा निर्देशित नियमों की कारण सहित व्याख्या करता है। इसीलिए भाषा-विज्ञान को व्याकरण का व्याकरण कहा जाता है। व्याकरण यही बतलाता है कि अमुक शब्द स्त्रीलिंग या पुल्लिग है, किन्तु भाषा-विज्ञान उसके स्त्रीलिंग या पुल्लिग होने का कारण भी बतलाता है। जिस

प्रकार से शुद्ध भाषा जानने के लिए व्याकरण की आवश्यकता होती है, उसी तरह व्याकरण के नियमों की व्याख्या के लिए भाषा-विज्ञान की आवश्यकता होती है। ये दोनों शास्त्र भाषा का ही अध्ययन करते हैं, किन्तु दोनों का क्षेत्र अलग-अलग है। इन दोनों में बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है और कभी-कभी परस्पर एक दूसरे की सीमा में भी प्रविष्ट हो जाते हैं।

साहित्य :

भाषा मनुष्य की अभिव्यक्ति का सबसे श्रेष्ठ साधन है, किन्तु भाषा द्वारा जो व्यक्त होता है अधिकतर उसकी रक्षा हो नहीं पाती। साहित्य मानव द्वारा व्यक्त, उसके भावों और विचारों का स्थायी रूप है। एक प्रकार से इसे हम भाषा का भी स्थायी रूप कह सकते हैं। बिना साहित्य के भाषा का अध्ययन संभव ही नहीं है। ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान तो अपनी सारी सामग्री साहित्य से प्राप्त करता है। जिन भाषाओं का कोई साहित्य नहीं है उनका अध्ययन नहीं हो पाता और वे भाषाएँ धीरे-धीरे लुप्त हो जाती हैं। भाषा के वर्तमान रूप का कारण जानने के लिए हमें उसके पुराने साहित्य को देखना पड़ता है। तुलनात्मक दृष्टि से भी भाषा का अध्ययन करने के लिए साहित्य की आवश्यकता होती है। साहित्य मानव-संस्कृति के विकास का लेखा-जोखा होता है और भाषा-विज्ञान साहित्य से ऐसी सारी सामग्री लेकर उसका विश्लेषण करके ज्ञान की नयी दिशाएँ देता है। जिस प्रकार साहित्य भाषा-विज्ञान के लिए उपयोगी है उसी प्रकार भाषा-विज्ञान भी साहित्य के लिए उपयोगी है। प्राचीन साहित्य का अध्ययन करते समय कई शब्द ऐसे मिलते हैं जिनका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। भाषा-विज्ञान उसकी व्युत्पत्ति और विकास का विश्लेषण कर हमें प्राचीन साहित्य समझने में सहायता प्रदान करता है। पुरानी भाषा से आज की भाषा भिन्न क्यों है, पुराने शब्द-रूपों से आज के शब्द-रूप अलग क्यों हैं, इसका उत्तर भाषा-विज्ञान में मिलता है। वस्तुतः साहित्य और भाषा-विज्ञान का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि एक का कार्य दूसरे के बिना चल ही नहीं सकता।

: ४ :

भाषा की उत्पत्ति

भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाले लोगों के सामने हमेशा से यह समस्या रही है कि भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई? इस समस्या पर बहुत दिनों से भाषा-विज्ञानी विचार करते आये हैं, किन्तु अभी तक कोई एक मत सर्वमान्य नहीं हो सका। सृष्टि के आरम्भ में पृथ्वी पर मनुष्य ने पहले पहल किस प्रकार बोलना आरम्भ किया, यह एक विवादास्पद विषय बना हुआ है। इस सम्बन्ध में विद्वानों ने अपने विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जितने भी सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं वे केवल अनुमान पर आधारित हैं। विद्वानों ने उत्पत्ति की संभावना के सम्बन्ध में अनुमान किया है और उसे ही सिद्धान्त का नाम दे दिया है। भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रचलित हैं वे नीचे दिए जा रहे हैं :—

(१) दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त :

इस मत के अनुसार भाषा की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा हुई है। जैसे ईश्वर ने मनुष्य को बनाया वैसे ही उसने उसे भाषा भी दी। मनुष्य जब उत्पन्न हुआ तो अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ इस पृथ्वी पर आया था। जैसे अपने आप मनुष्य में चेतना का विकास हुआ वैसे ही उसे अपने आप भाषा भी प्राप्त हो गयी। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा का स्रष्टा ईश्वर है। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए धार्मिक ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है। भारतीय हिन्दू विद्वान वेदों को अलौकिक

मानते हैं। ईश्वर ने संस्कृत की रचना की, फिर उसी भाषा में वेदों का निर्माण किया। इसीलिए इसे देवभाषा कहते हैं। संस्कृत के मूल आधार, पाणिनि के १४ सूत्र शङ्कर के डमरू से निकले कहे जाते हैं। बौद्ध मतावलम्बी 'पालि' को अनादि काल से चली आती मूल भाषा मानते हैं। जैन लोग अर्धमागधी को मनुष्यों की ही मूल भाषा नहीं, बल्कि प्राणिमात्र की मूल भाषा मानते हैं। जब महावीर स्वामी अपना उपदेश देते थे तो पशुपक्षी सभी उसे सुनते थे। ईसाई लोग हिब्रू को सभी भाषाओं की जननी मानते हैं। इस्लाम-धर्म में कुरान खुदा का कलाम माना जाता है।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त अब पूर्णतः अवैज्ञानिक समझा जाने लगा है। इस वैज्ञानिक युग में जब ईश्वर पर ही विश्वास नहीं है, तो उसके द्वारा उत्पन्न की गयी भाषा पर विश्वास करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस सिद्धान्त की परीक्षा के लिए अकबर बादशाह ने कुछ बच्चों को उनके परिवार तथा समाज से दूर एकान्त में रखकर पालने का प्रबन्ध किया। उनके सामने किसी भी प्रकार के शब्द का उच्चारण नहीं किया जाता रहा। अन्त में वे बच्चे गूँगे निकले। इसी प्रकार मिस्र देश के राजा सैमेटिकुस ने भी परीक्षण किया। कई वर्ष के पश्चात् सिर्फ वे बेकोस का उच्चारण कर सके जिसे उन्होंने खाना देने वाले से सुन लिया था। बेकोस का अर्थ फ्रीजियन भाषा में रोटी होता है जो भूल से बच्चों के सामने उच्चरित हो गया था। इन उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य कोई भाषा ईश्वर के यहाँ से सीखकर नहीं आता। इस सिद्धान्त में सबसे आपत्तिजनक बात यह है कि अगर भाषा ईश्वर-प्रदत्त है तो इसमें इतना भेद क्यों है? सम्पूर्ण मनुष्य-जाति की भाषा एक ही क्यों नहीं हुई? वस्तुतः यह सिद्धान्त बिल्कुल ही कपोल-कल्पित और अवैज्ञानिक है।

निर्णय-सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त को प्रतीकवाद या संकेतवाद भी कहते हैं। इस सिद्धांत के समर्थकों का कहना है कि आदिम मनुष्यों ने एक स्थान पर बैठकर

आपस में समझौता करके भाषा का निर्माण किया । प्रारम्भ में मनुष्य संकेतों से काम लेता था, किन्तु उसे विचार-विनिमय के लिए और अच्छे साधन की आवश्यकता हुई । फिर सबने एकत्र होकर आवश्यक वस्तुओं और कार्यों के लिए प्रतीक-रूप में ध्वनि तथा शब्द निश्चित किये और वहाँ से भाषा का प्रारम्भ हुआ ।

इस सिद्धान्त में भी कई असंगतियाँ हैं । पहली बात तो यह है कि जब मनुष्य के पास भाषा नाम की चीज नहीं थी, तब वह कैसे एकत्र हुआ होगा और किस माध्यम से उसने पारस्परिक निर्णय किया होगा ? जब कोई भाषा थी ही नहीं तब किसी वस्तु का नाम किसी व्यक्ति ने कैसे प्रगट किया होगा ? और यदि उसके पास कोई भाषा थी तो, दूसरी नयी भाषा के निर्माण की उसे क्या आवश्यकता थी ? दूसरी असंगति यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार एक ऐसा समय था जब मनुष्य के पास भाषा नहीं थी और भाषा की आवश्यकता अनुभव कर उसने भाषा का निर्माण किया । आज भी बहुत से पशुओं के पास भाषा नहीं है । वे क्यों नहीं एकत्र होकर किसी भाषा का निर्माण कर लेते ? वस्तुतः यह सिद्धान्त भी केवल अनुमान पर आधारित है, इसमें कोई तथ्य नहीं है ।

धातु-सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त को डिंग-डांगवाद भी कहते हैं । इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द और अर्थ में एक प्रकार का रहस्यात्मक प्राकृतिक सम्बन्ध होता है । विश्व की हर एक वस्तु की अपनी एक खास ध्वनि होती है जो किसी दूसरी वस्तु से सम्पर्क पाने पर व्यक्त होती है । अगर हम एक लकड़ी के हथौड़े से एक धातु, एक शीशे, एक पत्थर, एक इंट, एक लकड़ी पर अलग-अलग चोट करें तो हम देखेंगे कि उनसे अलग-अलग प्रकार की ध्वनियाँ निकलती हैं और हम सुनकर ही बता सकेंगे कि यह ध्वनि किस वस्तु से निकली है । कभी-कभी घर में किसी चीज के टूटने की आवाज सुनकर ही हम अनुमान लगा लेते हैं कि अमुक चीज टूट गयी

है। प्रारम्भ में आदमी के पास वाणी नहीं थी, लेकिन जब वह जगत् की विभिन्न वस्तुओं के सम्पर्क में आया तो सहज ही उसके मुँह से वस्तु-वोधक शव्द निकल पड़े। जैसे ही वह किसी चीज के सम्पर्क में आता, उसके लिए उसके मुँह से एक ध्वनि निकल जाती। भाषा का निर्माण-कार्य पूरा हो जाने के पश्चात् मनुष्य की यह नैसर्गिक शक्ति अपने आप समाप्त हो गयी। आरम्भ में इस प्रकार की धातुओं की संख्या वहुत अधिक थी, लेकिन धीरे-धीरे वहुत-सी उनमें से लुप्त हो गयीं और सिर्फ ४००-५०० धातुयें शेष रह गयीं। इन्हीं धातुओं से सम्पूर्ण भाषा का निर्माण हुआ।

इस सिद्धान्त में कई दोष हैं जिसके कारण इसे मान्यता नहीं दी जा सकती। सवसे पहली वात तो यह कि भाषा में धातुएँ वाद में आती हैं, आरम्भ में नहीं। भाषा सीखने की प्रक्रिया में पहले संज्ञायें आती हैं। दूसरी वात यह है कि इस मत के अनुसार दुनिया की सभी भाषाओं में धातु का होना आवश्यक है, किन्तु एकाक्षरी भाषा-परिवार में धातु नाम की कोई चीज नहीं होती। जिन भाषाओं में धातुएँ हैं उनमें वे कृत्रिम हैं या वाद की खोजी हुई हैं। तीसरी वात यह है कि इस सिद्धान्त में कल्पना का कोई आधार ही नहीं है। जैसे कोई जादूगर जादू की लकड़ी घुमाकर क्षण भर में कुछ का कुछ कर देता है वैसे ही मनुष्य वस्तुओं के सम्पर्क में आने पर शव्द वनाता चला गया और जैसे ही सव शव्द वन गए उसकी जादू जैसी शक्ति समाप्त हो गयी। इस कल्पना पर जरा भी विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः इस सिद्धान्त में भी कोई तथ्य नहीं है।

श्रम-परिहार-सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा की उत्पत्ति श्रम-परिहार के लिए निकली ध्वनियों से हुई। आरम्भ में आदमी सामूहिक रूप में काम किया करता था। वह सामूहिक शक्ति को एक साथ लगाने के लिए एक विशिष्ट प्रकार की ध्वनियों का उच्चारण करता था, या श्रम-परिहार

के लिए कुछ ध्वनियाँ सहज ही उसके मुँह से निकल जाती थीं। इन्हीं ध्वनियों के आधार पर भाषा का निर्माण हुआ है। आज भी नाव खेते समय मल्लाह, रोलर खींचते समय मजदूर, कपड़े धोते समय धोबी कुछ विशिष्ट प्रकार की ध्वनियाँ करते हैं।

यह सिद्धान्त बिल्कुल ही निराधार है। आवेग को प्रगट करने वाली या श्रम-परिहार करने वाली चार-छः ध्वनियों से भाषा का निर्माण कैसे हो सकता है ? किसी भी भाषा में ये ध्वनियाँ दस से अधिक नहीं होंगी। सबसे आपत्तिजनक बात यह है कि ये ध्वनियाँ बिल्कुल अर्थहीन हैं। भाषा की उत्पत्ति के लिए इस सिद्धान्त की चर्चा करना उपहासास्पद है।

अनुकरण-सिद्धान्त :

इसे भों-भोंवाद या अनुकरणमूलकतावाद भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं से उत्पन्न होने वाली नैसर्गिक ध्वनियों पर उनके नाम दिए गए हैं। जिस वस्तु से जिस प्रकार की ध्वनि सुनायी दी उसका नाम उस ध्वनि के अनुकरण पर रख दिया। झर-झर करने वाले जल-प्रवाह को निर्झर, दर-दर ध्वनि करने वालों को दर्दुर, का-का करने वाले को काक कहा जाने लगा। मुर्गे की कुकड़ूँकू की ध्वनि से उसका नाम कुक्कुट पड़ा। इसी प्रकार गर्जन, मर्मर, झनझन, धमाधम, गड़गड़ाहट, घरघराहट, सनसनाना, घिघियाना, मिमियाना, दहाड़ना, गुर्राना, हिनहिनाना, खटखटाना, बड़बड़ाना आदि शब्द ध्वनि-साम्य पर ही बने हैं। फटफटिया और पोंपों शब्द भी इसी प्रकार बनाए गए हैं। इसी प्रकार से ध्वन्यात्मक अनुकरण द्वारा भाषा की उत्पत्ति हुई है।

इस सिद्धान्त को मानने में भी कई आपत्तियाँ हैं। पहली आपत्ति तो यह है कि यह सिद्धान्त मनुष्य को वाणी-विहीन मानता है और उसकी भाषा का प्रारम्भ प्राकृतिक वस्तुओं की ध्वनियों से मानता है। अतः भाषा की दृष्टि से मनुष्य पशु-पक्षियों से निम्न कोटि का सिद्ध होता है। यह बात तर्कसंगत नहीं लगती कि पशु-पक्षियों ने मनुष्य से पहिले ही भाषा प्राप्त

कर ली थी और उसने उनका अनुकरण करके भाषा प्राप्त की। यदि मनुष्य में पहले से ही बोलने की शक्ति नहीं थी, तो उसने पशु-पक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण कैसे किया? दूसरी आपत्ति यह है कि इस सिद्धान्त के मान लेने पर भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न हल नहीं होता। प्रत्येक भाषा में अनुकरणमूलक शब्द गिने-चुने ही होते हैं। ,और शब्द कहाँ से आये इसका उत्तर यह सिद्धान्त नहीं देता। तीसरी आपत्ति यह है कि यदि शब्द अनुकरण पर बने होते, तो दुनिया को सभी भाषाओं में एक जैसी ध्वनि होती, किन्तु ऐसी बात नहीं है। दर-दर की ध्वनि से संस्कृत में दर्दुर बना, अंग्रेजी में फ्राग और फ्रान्सीसी में ग्रेनूइ।

भाषा की उत्पत्ति के लिए यह सिद्धान्त भी पूर्णतः ठीक नहीं है, किन्तु इसमें कुछ सत्यांश है। हर भाषा में कुछ ध्वन्यात्मक शब्द होते हैं जो इसी प्रकार बनते हैं। हर भाषा की ध्वन्यात्मक शब्दावली इस सिद्धान्त पर आधारित हो सकती है न कि सम्पूर्ण भाषा।

अनुरणन-सिद्धान्त :

यह सिद्धान्त एक प्रकार से अनुकरण-सिद्धान्त का अंश है। अनुकरण में पशु-पक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण है और इसमें धातु, लकड़ी, पानी आदि निर्जीव चीजों का। झन-झन्, ठक्-ठक्, छल्-छल् आदि ध्वनियाँ इसी प्रकार की हैं। वस्तुतः ये दोनों दो अलग सिद्धान्त न होकर एक ही हैं।

मनोभावाभिव्यक्ति-सिद्धान्त :

इसे आवेग-सिद्धान्त या 'मनोभावाभिव्यंजकतावाद भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रसन्नता, शोक, विस्मय, घृणा, क्रोध, क्षोभ आदि मनोभावों की नैसर्गिक अभिव्यक्ति के समय जो ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हीं से भाषा की उत्पत्ति हुई है। भावावेग की स्थिति में अपने आप मुँह से कुछ ध्वनियाँ निकल पड़ती हैं; जैसे प्रसन्नता में आहा, वाह-वाह; दुःख में आह, हाय, तिरस्कार या घृणा में धिक्, छिः, विस्मय में ऐं, हैं,

ओह आदि। अपने आप निकलने वाली इन संवेदक ध्वनियों से ही धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ।

अन्य सिद्धान्तों की भाँति इसमें भी कई दोष हैं। पहला दोष तो यह है कि यदि ये ध्वनियाँ मानवमात्र की सहज अभिव्यक्ति हैं, तो भिन्न-भिन्न भाषाओं में ये शब्द एक ही रूप में क्यों नहीं मिलते ? वस्तुतः ये संयोग से इन भावों से सम्बद्ध हो गये हैं और ये पूर्ण रूप से याद्दच्छिक हैं। दूसरा दोष यह है कि ये आवेगी ध्वनियाँ भाव की तीव्रता की बोधक हैं। ये स्वाभाविक भाषा के अंग नहीं हैं। भाषा का विचार और चिन्तन से सम्बन्ध होता है, जबकि ये ध्वनियाँ अपने आप किसी विशेष स्थिति में निकल जाती हैं और इनका विचार, चिन्तन से कोई सम्बन्ध नहीं होता। तीसरा दोष यह है कि ऐसे शब्दों की संख्या किसी भी भाषा में सौ से ज्यादा नहीं होती। इस छोटी संख्या को भाषा की उत्पत्ति का आधार मानना सम्भव नहीं है। चौथा दोष यह है कि ये आवेगी ध्वनियाँ भाषा का अंग नहीं बन सकतीं। ये ध्वनियाँ केवल वहीं प्रयुक्त होती हैं जहाँ बोलना सम्भव नहीं होता। केवल इतना ही हो सकता है कि भाषा में प्रारम्भ में ऐसी ध्वनियाँ अवश्य रही होंगी। उनका प्रयोग भी होता रहा है और आज भी हो रहा है, किन्तु भाषा की उत्पत्ति इन आवेगी ध्वनियों से नहीं सिद्ध की जा सकती। कुछ शब्दों का मूल रूप जानने में इस सिद्धान्त से सहायता मिल सकती है, क्योंकि हर भाषा में कुछ शब्द आवेगी तो होते ही हैं।

समन्वय-सिद्धान्त :

भाषा की उत्पत्ति के कुछ सिद्धान्तों में तो कोई तथ्य नहीं है और कुछ में आंशिक सत्य है। यह देखकर कुछ विद्वानों ने समन्वय-सिद्धान्त की कल्पना की। इसके अनुसार भाषा की उत्पत्ति किसी एक सिद्धान्त के आधार पर नहीं हुई है, बल्कि सभी सिद्धान्तों के मेल से हुई है। कुछ शब्द अनुकरण से बने, कुछ अनुरणन से बने, कुछ श्रम-परिहार से और कुछ

मनोभावाभिव्यक्ति के आधार पर। इस प्रकार से सभी सिद्धान्तों में प्राप्त सत्यांश को लेकर समन्वय-सिद्धान्त का निर्माण किया गया।

किन्तु सभी सिद्धान्तों का समन्वय कर देने पर भी भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न पूर्ण रूप से हल नहीं हो पाता। केवल कुछ शव्द ही ऐसे हैं जिनकी उत्पत्ति का पता इनसे लग पाता है। शेष हजारों, लाखों शव्दों की समस्या वैसे ही वनी रहती है। इस सिद्धान्त में सवसे आपत्तिजनक वात यह है कि यह सभी सिद्धान्त इस बात को मान कर चलते हैं कि प्रारम्भ में मनुष्य मूक था। इस मान्यता को किसी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः समन्वय-सिद्धान्त भी मान्य नहीं हो सकता।

विकास-सिद्धान्त :

इस सिद्धान्त को ऐतिहासिक सिद्धान्त भी कहते हैं। यह सिद्धान्त मानव के कमिक विकास के अनुसार भाषा का क्रमिक विकास मानता है। प्रारम्भ में मनुष्य अन्य पशुओं की तरह था। उसके पास भाषा नाम की चीज नहीं थी, किन्तु वह मूक नहीं था। वह आंगिक चेष्टाओं तथा अन्य संकेतों द्वारा अपनी वात अपनी जाति के अन्य सदस्यों के पास पहुँचाता था। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मनुष्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में भी अन्य पशुओं से अधिक बुद्धिसम्पन्न था। समूह में रहने की सहज वृत्ति अन्य जीवों की तरह मानव में भी थी। सामूहिक जीवन के लिए किमी न किसी प्रकार की अभिव्यक्ति वह करता रहा। शारी-रिक चेष्टाएँ, अस्पष्ट ध्वनियाँ आदि उस समय उसके अर्थ-सम्प्रेषण के साधन थे। इसे ही हम उस आदिम मानव की आदिम भाषा कह सकते हैं।

आंगिक या सांकेतिक भाषा वहुत ही स्थूल एवं कामचलाऊ थी। जैसे-जैसे उसका विकास होता गया, वैसे-वैसे उसे सम्प्रेषण की आवश्य-कता का आभास होने लगा। भूख-प्यास मिटाने के लिए वह संकेत का उपयोग कर सकता था, किन्तु किसी सूक्ष्म विचार का सम्प्रेषण उसके

लिए सम्भव नहीं था। दूसरी बात यह कि आंगिक चेष्टाओं और संकेतों का उपयोग सामने रहने या प्रकाश में ही किया जा सकता था। इस तरह आंगिक भाषा और संकेत सीमित थे। उसे बड़ी तेजी से किसी ऐसे साधन की खोज थी जो इन सीमाओं को तोड़ सके। कालान्तर में उसे वाचिक भाषा प्राप्त हुई। वाचिक भाषा मानव-इतिहास की एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। धीरे-धीरे मनुष्य ध्वनियों का उपयोग करने लगा और ये ध्वनियाँ रूढ़ बनती गयीं। अब यह वाचिक भाषा अन्धकार और सामुख्य की सीमा को तोड़कर आगे बढ़ गयी, किन्तु यह उच्चारण के समय ही अपना काम कर सकती थी। उच्चरित भाषा का उपयोग घण्टे, दो घण्टे बाद नहीं हो सकता था और न दूर के मनुष्य के लिए हो सकता था। अतः स्थायित्व प्राप्त करने की अदम्य लालसा ने मनुष्य को ध्वनियों के प्रतीक रूप में लिपि खोजने के लिए बाध्य किया। अपनी वाचिक भाषा को सुरक्षित रखने के लिए मनुष्य ने लिपि का आविष्कार किया। आज लिपि में स्थायित्व भले ही है, किन्तु उसकी भी अपनी एक सीमा है। लिपि द्वारा हम बोलने वाले की आवाज तो नहीं सुन पाते। भाषा उच्चरित होने के बाद निर्जीव हो जाती है। अतः भाषा की निर्जीवता दूर करने के लिए मनुष्य ने यान्त्रिक भाषा का आविष्कार किया। ग्रामोफोन के रेकार्ड और टेप एक प्रकार से यान्त्रिक भाषा ही है। इस तरह भाषा कई सोपानों को पार करके आज इस रूप में हमें प्राप्त है। भाषा की उत्पत्ति एक दिन में नहीं हुई; बल्कि इसका धीरे-धीरे विकास हुआ है। अतः विकास-सिद्धान्त ही भाषा की उत्पत्ति का सही सिद्धान्त है।

: ५ :

भाषाओं का वर्गीकरण

संसार भर में लगभग तीन हजार भाषायें हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए इनका वर्गीकरण किया जाता है। वर्गीकरण के कई आधार हो सकते हैं; जैसे देश के आधार पर चीनी, रूसी, बर्मी, भारतीय आदि भाषाएँ हो सकती हैं। काल के आधार पर प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक भाषाएँ हो सकती हैं, किन्तु वर्गीकरण के ये आधार महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। वस्तुतः भाषा-विज्ञान में भाषाओं का दो प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है—आकृतिमूलक और पारिवारिक।

आकृतिमूलक वर्गीकरण :

भाषा में दो तत्त्व होते हैं—अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व। अर्थ-तत्त्व केवल वस्तुओं, कार्यों या विचारों का अर्थ सूचित करते हैं और सम्बन्ध-तत्त्व, अर्थ-तत्त्व में परस्पर सम्बन्ध जोड़ते हैं; जैसे लड़कियाँ शाम को साइकिल से जायेंगी। इसमें लड़की, शाम, साइकिल और जाना अर्थ-तत्त्व हैं तथा याँ, को, से और येंगी सम्बन्ध-तत्त्व हैं। अर्थ-तत्त्व में सम्बन्ध-तत्त्व जोड़ने की प्रक्रिया को पद-रचना कहते हैं। जो वर्गीकरण सम्बन्ध-तत्त्व, पद-रचना या रूप-रचना पर आधारित हो उसे आकृतिमूलक वर्गीकरण कहा जाता है। मूल शब्द से रूप बनाने की पद्धति के आधार पर जो भाषाएँ समानता रखती हैं वे एक वर्ग की होती हैं। इसे रूपात्मक, व्याकरणिक, रचनात्मक तथा वाक्यात्मक वर्गीकरण भी कहते हैं। इस वर्गीकरण में केवल पद-रचना का साम्य देखा जाता है। जिन

भाषाओं में पदों या वाक्यों की रचना का तरीका एक जैसा होता है, उनमें आकृतिमूलक साम्य होता है और उन भाषाओं को एक वर्ग में रखा जाता है।

पारिवारिक वर्गीकरण :

इस वर्गीकरण में सम्बन्ध-तत्त्व के साथ-साथ अर्थ-तत्त्व की समानता पर भी ध्यान दिया जाता है। एक वंश या परिवार में वे ही भाषाएँ आती हैं जिनमें पद-रचना के साम्य के अलावा अर्थ और ध्वनि का भी साम्य हो। इस प्रकार का साम्य तभी हो सकता है जबकि उन भाषाओं का ऐतिहासिक विकास-क्रम से सम्बन्ध हो। अर्थात् उन भाषाओं में निकटता हो। वस्तुतः भाषाओं का परिवार-निर्धारण करने के लिए निम्नलिखित समानताओं पर विशेष ध्यान दिया जाता है—

(१) ध्वनि की समानता (२) शब्द-भण्डार की समानता (३) अर्थ की समानता (४) पद-रचना एवं वाक्य-रचना की समानता (५) स्थानिक निकटता।

जो भाषाओं में ध्वनियों का साम्य उसके पूर्व सम्बन्ध को सूचित करता है, किन्तु भाषा में ध्वनियाँ प्रायः परिवर्तित होती रहती हैं। इस-लिए मात्र ध्वनि-साम्य पारिवारिक वर्गीकरण का दृढ़ आधार नहीं बन सकता। ध्वनि की अपेक्षा भाषा में शब्द-भण्डार अधिक स्थायी होता है, किन्तु शब्दों की जाँच-पड़ताल आवश्यक होती है। किसी भाषा में प्रयुक्त विदेशी शब्दों के आधार पर उसका पारिवारिक सम्बन्ध नहीं निर्धारित किया जा सकता। अर्थ भी प्रायः परिवर्तित होते रहते हैं, किन्तु चूंकि अर्थ मन से सम्बन्वित होते हैं इसलिए इसमें परिवर्तन कम है। फिर भी सिर्फ अर्थ-साम्य के आधार पर भी दो भाषाओं का सम्बन्ध निश्चित नहीं किया जा सकता। पद-रचना और वाक्य-रचना भाषा के स्थायी तत्त्व हैं। इन पर व्याकरण का नियन्त्रण होने से इनमें परिवर्तन भी कम होते हैं। अन्य भाषाओं से प्रभावित होने पर किसी भाषा की ध्वनि बदल

सकती है, शब्द नये आ सकते हैं, अर्थ में भी परिवर्तन हो सकता है, लेकिन पद-रचना बहुत ही कम बदलती है। इसीलिए पारिवारिक वर्गी-करण में इस पर वहुत ध्यान दिया जाता है। इस वर्गीकरण में स्थानिक निकटता का भी महत्त्व है। एक परिवार की भाषायें प्रायः भौगोलिक दृष्टि से निकट होती हैं। जिन भाषाओं में ये पाँचों वातें समान होती हैं वे भाषाएँ एक वर्ग या एक परिवार की होती हैं। पारिवारिक वर्गीकरण को ही वंशात्मक, वंशानुक्रमिक तथा ऐतिहासिक वर्गीकरण कहते हैं।

आकृतिमूलक वर्गीकरण :

पद-रचना की दृष्टि से संसार की समस्त भाषाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—अयोगात्मक और योगात्मक।

अयोगात्मक—अयोगात्मक भाषा उसे कहते हैं जिसके शब्दों में उपसर्ग या प्रत्यय आदि जोड़कर पद नहीं वनाये जाते। वस्तुतः इनमें प्रत्यय आदि की आवश्यकता ही नहीं होती। प्रत्येक शब्द स्वतन्त्र होता है और वाक्य में प्रयुक्त होने पर भी उसकी स्वतन्त्र सत्ता वनी रहती है। यही कारण है कि शब्दों को व्याकरणिक कोटि—संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि में विभाजित नहीं किया जाता। एक ही शब्द संज्ञा, क्रिया, विशेषण कुछ भी हो सकता है। इसमें स्थान-क्रम का वहुत महत्त्व होता है। वाक्य में शब्दों का क्रम वदल देने से अर्थ परिवर्तित हो जाता है। इस वर्ग की प्रमुख भाषायें चीनी, सूडानी, वर्मी, स्यामी, तिब्वती आदि हैं। चीनी अयोगात्मक भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसमें कोई व्याकरण नहीं है। वाक्य में स्थान-क्रम ही प्रमुख है। एक ही शब्द संज्ञा, विशेषण, क्रिया-विशेषण तथा क्रिया सभी वनता है। जैसे—

'ता लेन'—वड़ा आदमी

'लेन ता'—आदमी बड़ा है

अयोगात्मक भाषा को एकाक्षरी भाषा भी कहते हैं।

योगात्मक—योगात्मक भाषाओं में अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व दोनों का योग होता है। दोनों एक दूसरे से मिले हुए होते हैं; जैसे बच्चे पढ़ते हैं । इस वाक्य में दो अर्थ-तत्त्व हैं—बच्चा और पढ़ना। बच्चा में बहुवचन-सूचक 'ए' सम्बन्ध-तत्त्व जुड़ा है और पढ़ में वर्तमान काल एवं बहुवचन-सूचक 'ते हैं' सम्बन्ध-तत्त्व जुड़ा है। इस प्रकार से योगात्मक भाषा में अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व एक साथ मिले-जुले रहते हैं।

योगात्मक भाषाओं में सम्बन्ध-तत्त्व के योग की प्रकृति के आधार पर इन्हें तीन वर्गों में रखा जाता है—

(१) श्लिष्ट योगात्मक, (२) अश्लिष्ट योगात्मक, (३) प्रश्लिष्ट योगात्मक।

(१) श्लिष्ट योगात्मक—श्लिष्ट योगात्मक वर्ग की वे भाषाएँ हैं जिनमें सम्बन्ध-तत्त्व के जुड़ने से अर्थ-तत्त्व वाले भाग में कुछ विकार आ जाता है; जैसे वैदिक, नैतिक, भौगोलिक आदि। यहाँ सम्बन्ध-तत्त्व के जुड़ने से अर्थ-तत्त्व में कुछ परिवर्तन आ गया है, किन्तु अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व को सरलता से पृथक् किया जा सकता है। संसार में इस वर्ग की भाषायें सबसे अधिक हैं। भारोपीय तथा सामी-हामी परिवार की भाषाएँ इसी वर्ग में आती हैं।

(२) अश्लिष्ट योगात्मक—इस वर्ग में वे भाषाएँ आती हैं जिनमें अर्थ-तत्त्व में सम्बन्ध-तत्त्व इस प्रकार जुड़ा हुआ होता है कि दोनों की स्थिति बिलकुल अलग दिखायी देती है। दोनों तत्त्वों को बड़ी सरलता से अलग किया जा सकता है। इसमें सम्बन्ध-तत्त्व के जुड़ने से अर्थ-तत्त्व में कोई परिवर्तन नहीं होता; जैसे सुन्दरता, करेगा, आया आदि। तुर्की, कन्नड़ तथा बांटू परिवार की भाषाएँ इसी वर्ग में आती हैं।

(३) प्रश्लिष्ट योगात्मक—इस वर्ग में वे भाषाएँ हैं जिनमें अर्थ-तत्त्व और सम्बन्ध-तत्त्व का योग ऐसा होता है कि उनको अलग नहीं किया जा सकता। दोनों इतने मिल-जुल जाते हैं कि दोनों को अलग-अलग पहचानना भी कठिन हो जाता है; जैसे ऋतु से बना हुआ आर्तव। प्रायः इस वर्ग की भाषाओं में कई अर्थ-तत्त्वों का थोड़ा-थोड़ा अंश कटकर एक शब्द बन जाता है और वह पूरे वाक्य का अर्थ देता है। संस्कृत का एक शब्द इसका अच्छा उदाहरण है। 'जिगमिषति' का अर्थ होता है 'वह जाना चाहता है।' इस एक ही शब्द में वह, जाना, चाहना, वर्तमान-काल, अन्यपुरुष, एक-वचन, इतने अर्थ वर्तमान हैं, किन्तु किसी को इनमें पृथक् नहीं किया जा सकता। एस्किमो और बास्क भाषाएँ तथा ग्रीनलैण्ड और अमेरिका की मूल भाषाएँ इसी वर्ग में आती हैं।

पारिवारिक वर्गीकरण :

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, भाषाओं के पारिवारिक संबंध निश्चित करने के लिए ध्वनि-साम्य, शब्द-साम्य, व्याकरण-साम्य और भौगोलिक समीपता को दृष्टि में रखा जाता है। इन्हीं आधारों पर संसार की सभी भाषाओं को सात प्रमुख परिवारों में विभाजित किया गया है। ये परिवार निम्नलिखित हैं—

१. भारत-यूरोपीय, २. सामी, ३. मलय-पालिनिशियाई, ४. द्रविड़, ५. जापानी-कोरियाई, ६. यूराल-अल्ताई, ७. चीनी-तिब्बती।

(इन नामों को कण्ठस्थ करने का सूत्र है "भासा मद्रजा यूची" जो इन नामों के प्रथम अक्षर से बनाया गया है।)

भारत-यूरोपीय परिवार का दूसरा नाम आर्य-परिवार है। यह संसार का सबसे बड़ा परिवार है। लगभग एक सौ पाँच करोड़ लोगों द्वारा इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। यूरोप, कैनेडा, अमेरिका.

अफ्रीका, ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, भारत, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि देशों में इस परिवार की भाषाएँ फैली हैं। साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से यह परिवार सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सामी परिवार की भाषाएँ अरब, मिस्र, पश्चिमी-अफ्रीका, तथा अन्य इस्लामी देशों में हैं। हिब्रू जैसी पुरानी और अरबी जैसी आधुनिक भाषाएँ इसी परिवार की हैं।

मलय-पालिनिशियाई भाषाएँ मलाया, सुमात्रा, इंडोनेशिया, फिलीपाईन, बोर्नियो, फिजी आदि पूर्वी द्वीपों और अफ्रीका के पास मदागास्कर द्वीप में प्रचलित हैं। इस परिवार की भाषाएँ लगभग दस करोड़ लोगों द्वारा बोली जाती हैं।

द्रविड़ परिवार की चार प्रसिद्ध भाषाएँ तमिल, तेलगू, कन्नड, मलयालम् हैं, जिनका प्रचार भारत और सीलोन में है। लगभग दस करोड़ लोग इस परिवार की भाषा बोलते हैं।

जापानी-कोरियाई परिवार की भाषाएँ जापान और कोरिया में प्रचलित हैं। इस परिवार की भाषाओं को कुछ लोग चीनी परिवार में भी रखते हैं, किन्तु यह वस्तुतः स्वतन्त्र परिवार है।

यूराल-अल्ताई परिवार की भाषाएं तुर्की, मंगोलिया, मंचूरिया, सायबेरिया तथा हंगरी आदि देशों में प्रचलित हैं। इस भाषा-परिवार का क्षेत्र बड़ा है, लेकिन सांस्कृतिक महत्त्व कम है। इसके बोलने वालों की संख्या भी कुल सात करोड़ है।

चीनी-तिब्बती परिवार की भाषाएँ चीन और तिब्बत के अलावा बर्मा और थाईलैंड में लगभग ५६ करोड़ लोगों द्वारा बोली जाती हैं। चीनी भाषा इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है, और इसके बोलने वालों की संख्या पचास करोड़ है। इसका साहित्य भी बहुत पुराना है।

पारिवारिक वर्गीकरण करते हुए कुछ लोगों ने अठारह परिवार तक माने हैं, किन्तु सामान्य रूप से सात परिवार ही प्रमुख माने जाते हैं।

भारत-यूरोपीय या आर्य-परिवार :

भारत, यूरोप और ईरान की जिन भाषाओं को भारत-यूरोपीय भाषाएँ कहा गया है, उनके वर्तमान रूपों में कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, लेकिन इनके प्राचीन रूपों में बहुत अधिक सम्बन्ध था। सभी भारत-यूरोपीय भाषाओं में धातुएँ लगभग एक-सी हैं। रूप बनाने की प्रक्रिया भी समान है। सर्वनाम, संख्यावाची शब्द और कुछ उपसर्ग-प्रत्यय भी मिलते-जुलते हैं; जैसे—

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	अवेस्ता	फारसी	हिन्दी
अस्ति	एस्ति	एस्त्	अस्ति	अस्त	वह है
सप्त	हेप्त	सेप्तम्	हप्त	हफ्त	सात
दश	डेका	डेकेम	दस	दह	दस
मातर्	मेतरे	मातेर	मातर	मादर	माता
पितर्	पतरे	पतेर	पितर	पिदर	पिता

इन समानताओं को देखकर विद्वानों ने यह अनुमान किया कि संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता, फारसी आदि भाषाओं का कोई एक रूप रहा होगा, जिससे ये भाषाएँ विकसित हुई हैं। तुलनात्मक आधार पर विद्वानों ने उस भाषा का पुनर्निर्माण किया है, जो भारोपीय भाषा के नाम से प्रसिद्ध है। भारोपीय भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें तीन प्रकार की वर्गीय ध्वनियाँ हैं। इस भाषा का काल लगभग ढाई हजार ईसवी पूर्व माना जाता है। हित्ती नाम की भाषा का पता लगने पर इसका नाम भारत-हित्ती परिवार रखा गया। इसका दूसरा नाम आर्य-परिवार भी है।

भारोपीय परिवार की भाषाओं का वर्गीकरण ध्वनियों के आधार पर किया गया है। इसमें दो वर्ग की भाषाएँ हैं—एक का नाम है केन्तुम् और दूसरे का सतम्। केन्तुम् वर्ग के अन्तर्गत ग्रीक, इटालिक, केल्टी, जर्मनीय, हित्ती और तुखारी उपपरिवार की भाषाएँ आती हैं, और सतम्

वर्ग में भारत, ईरानी, आर्मीनी बाल्ती-स्लेवोनी तथा अलबानी उपपरिवार की भाषाएँ आती हैं। नीचे इनमें से प्रमुख परिवारों का परिचय संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है :

केन्तुम् वर्ग

ग्रीक—इस वर्ग का सबसे प्राचीन उपपरिवार है। यूरोप की अनेक भाषा की सांस्कृतिक और वैज्ञानिक शब्दावली ग्रीक से ही ली गयी है। इसका प्राचीनतम रूप आठवीं शताब्दी ई० पूर्व में मिलता है। इसका प्राचीन साहित्य बहुत समृद्ध है।

इटालिक—इस उपपरिवार के अन्तर्गत लैटिन, ओस्की आदि भाषाएँ थीं, जिनमें लैटिन का विकास बराबर होता रहा। लैटिन साहित्य पाँच सौ ई० पू० पुराना है। रोमन, कैथॉलिक सम्प्रदाय की धर्मभाषा और रोम साम्राज्य की राज्यभाषा होने से इसका बहुत प्रचार हुआ। आगे चलकर इसी से रोमानी, ईटाली, स्पेनी, फ्रेंच और पोर्तुगाली भाषा का विकास हुआ।

केल्टी—केल्टी उपपरिवार की पुरानी भाषा गाल अब लुप्त हो गयी है, लेकिन आयरिश और वेल्स भाषाएँ अब भी ब्रिटेन, आयरलैंड, स्काटलैंड आदि में प्रचलित हैं।

जर्मनी—इस उपपरिवार की प्राचीन जर्मनी भाषा तीसरी शताब्दी से प्रचलित थी। इसी से आगे जर्मन, डच, स्वीडिश और अंग्रेजी भाषाएँ विकसित हुईं। जर्मन भाषा का वैज्ञानिक साहित्य बहुत प्रचुर है। तथा अंग्रेजी भाषा का प्रचार सारे विश्व में सबसे ज्यादा है।

सतम् वर्ग

बाल्ती-स्लेवोनी—इस उपपरिवार की भाषाएँ रूस, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि में प्रचलित हैं। इन भाषाओं का प्राचीन साहित्य नहीं है। इनमें रूसी सबसे महत्त्वपूर्ण भाषा है।

आर्मीनी—इस उपपरिवार की भाषाएँ यूरोप और एशिया के बीच आर्मीनिया के आस-पास प्रचलित हैं। इसमें ग्यारहवीं शताब्दी से धार्मिक साहित्य प्राप्त होता है। इस परिवार की भाषा पर ग्रीक, तुर्की, ईरानी आदि भाषाओं का प्रभाव रहा है।

भारत-ईरानी—इस उपपरिवार की भाषाएँ भारत से लेकर ईरान तक फैली हुई हैं। इसकी तीन प्रधान शाखाएँ हैं—ईरानी, दरद और भारतीय आर्य भाषा। हिन्दी इसी उपपरिवार की एक प्रमुख भाषा है। भारतीय आर्य भाषा और ईरानी का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसीलिए इन्हें एक वर्ग में रखा गया है।

ईरानी—ईरानी भाषा के विकास को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है : (१) प्राचीन काल—पुरानी फारसी या अवेस्ता। (२) मध्यकाल—पहलवी। (३) आधुनिक काल—आधुनिक फारसी या ईरानी। पुरानी ईरानी का काल ४०० ई० पू० का माना जाता है। इसमें पारसियों का धर्मग्रन्थ अवेस्ता लिखा गया है। इस भाषा के कुछ अभिलेख भी मिलते हैं। मध्यकाल की ईरानी में पहलवी सबसे प्रमुख है। इसमें अवेस्ता की टीकाएँ लिखी गयी हैं। पहलवी पर सामी भाषा का बहुत अधिक प्रभाव है। आधुनिक काल की ईरानी में फारसी भाषा प्रमुख है जो ईरान की राष्ट्रभाषा है। इसका साहित्य बहुत ही समृद्ध है। फारसी में अरबी शब्दों का अनुपात बहुत अधिक है। ईरानी वर्ग की प्रधान भाषा फारसी बहुत दिनों तक आधुनिक भारतीय भाषाओं को प्रभावित करती रही। वर्तमान काल में इस परिवार की अन्य भाषाएँ पस्तो, बलोची, गाल्चा, कुर्दी आदि हैं।

दरद—दरद का अर्थ है पहाड़। पंजाब के पश्चिम और उत्तर में पर्वतीय प्रदेश दरद भाषाओं का क्षेत्र है। इसे पिशाची भाषा भी कहते हैं। इसकी प्रमुख उपभाषाएँ काफिरी, खोवारी, शीना, काश्मीरी और कोहिस्तानी हैं। काश्मीरी में चौदहवीं शताब्दी तक का साहित्य प्राप्त होता है। इस पर फारसी और पंजाबी का प्रभाव है।

भारतीय आर्य भाषा—भारत-ईरानी उपपरिवार की ही नहीं, बल्कि संपूर्ण भारोपीय परिवार की सबसे प्रसिद्ध और समृद्ध शाखा भारतीय आर्य भाषा है। इस भाषा की परंपरा लगभग चार हजार वर्ष से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। भारतीय आर्य भाषा के विकास-क्रम में तीन स्थितियाँ आती हैं :

(१) प्राचीन भारतीय आर्य भाषा—१५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक।

(२) मध्यकालीन आर्य भाषा—५०० ई० पू० से १००० ई० तक।

(३) नव्य भारतीय आर्य भाषा—१००० ई० से अब तक।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के उदाहरण ऋग्वेद से मिलते हैं। इसे वैदिक भाषा कहते हैं। इस भाषा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(१) यह श्लिष्ट योगात्मक भाषा है। (२) इसकी रूप-रचना में बहुत जटिलता है। (३) यह भाषा स्वर-प्रधान है।

५ वीं शताब्दी के आस-पास पाणिनी ने वैदिक भाषा का संस्कार करके संस्कृत नाम दिया। संस्कृत उस समय संपूर्ण देश की साहित्यिक और शासन की भाषा थी। इसका साहित्य बहुत ही समृद्ध है।

मध्यकालीन आर्य भाषा—५ वीं शताब्दी ई० पू० से १० वीं शताब्दी ई० सन् तक मध्यकालीन आर्य भाषाओं का प्रचार था। इस काल की भाषा को प्राकृत नाम दिया गया है। प्राकृत की तीन स्थितियाँ मानी गयी हैं—(क) पहली प्राकृत (पाली) ५०० ई० पू० से पहली शताब्दी तक। (ख) दूसरी प्राकृत (साहित्यिक प्राकृतें) पहली शताब्दी से ५०० ई० सन् तक। (ग) तीसरी प्राकृत (अपभ्रंशें) छवीं शताब्दी से १० वीं शताब्दी तक।

पाली में बौद्ध साहित्य रचा गया। इसके कई शिलालेख भी प्राप्त होते हैं। संस्कृत व्याकरण के बहुत से नियमों को पाली में सरल किया गया। संयुक्त स्वरों ऐ, औ के स्थान पर ए, ओ का प्रयोग होने लगा।

संयुक्त व्यंजनों की इसमें प्रधानता रही। संस्कृत रूपों को सरल करके वचन, कारक, गण आदि की संख्या कम कर दी गई। सिर्फ छः वचन रह गए। साहित्यिक प्राकृतों के कई भेद मिलते हैं : शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी आदि। वस्तुतः ये प्राकृतें जनभाषाएँ थीं, जो विकसित होकर साहित्यिक भाषाएँ बन गयीं। महाराष्ट्री प्राकृत में साहित्य की पर्याप्त रचना हुई। इन प्राकृतों में संयुक्त व्यंजन के स्थान पर स्वर-भक्ति की प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। इससे व्याकरण में भी थोड़ी सरलता आयी। केवल दो लिंग रहे और चार विभक्तियाँ। लकार (काल) सिर्फ चार रह गए। साहित्यिक प्राकृतों से अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ, और प्राकृतों के आधार पर अपभ्रंश के भी उतने ही भेद हुए। कुछ विद्वानों का मत है कि अपभ्रंश का विकास प्राकृतों से नहीं हुआ। यह आभीरों की भाषा थी। उनके साम्राज्य के साथ छठीं, सातवीं शताब्दी में भारत में फैल गयी। अपभ्रंश की सामान्य विशेषता निम्न-लिखित है—(१) अपभ्रंश की प्रवृत्ति अयोगात्मकता की ओर हो गयी। (२) द्वित्व ध्वनियाँ कम हो गयीं। (३) रूप-रचना में और सरलता आयी।

अपभ्रंश में ही हिन्दी तथा आधुनिक भाषाओं के लक्षण दिखलाई देते हैं। इस प्रकार संस्कृत विकसित होकर प्राकृत तथा अपभ्रंश से होते हुए आधुनिक भाषाओं में हिन्दी, मराठी, गुजराती, उड़िया, बँगला, पंजाबी आदि प्रमुख हैं जिनका विकास अपभ्रंश से ही माना जाता है। आधुनिक भाषाओं की सामान्य विशेषता यह है कि वे सभी अयोगात्मक हो गयीं। (२) अपभ्रंश के द्वित्व व्यंजन के स्थान पर एक का लोप और पूर्ववर्त्ती अक्षर में प्रतिपूरक दीर्घता आयी। (३) रूपों की संख्या में बहुत कमी आ गयी। अधिकतर भाषाओं में दो ही लिंग हैं। (४) वाक्य में शब्दों का स्थान निश्चित हो गया।

: ६ :

हिन्दी भाषा का विकास

पहले हम देख चुके हैं कि संस्कृत विकसित होकर प्राकृत और प्राकृत विकसित होकर अपभ्रंश बनीं। अपभ्रंश से ही हिन्दी का विकास माना जाता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार अपभ्रंश और हिन्दी के बीच भाषा की एक और स्थिति थी जिसे अवहट्ट कहते हैं। अवहट्ट को लोगों ने पुरानी हिन्दी भी कहा है। ई० सन् की दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक हिन्दी का कोई सुष्ठु रूप नहीं निखर पाया था। उस काल की रचनाओं पर अनेक भाषाओं का प्रभाव दिखायी पड़ता है। कुछ रचनाएँ तो अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा में हैं, कुछ डिंगल-भाषा में औरकुछ अवधी-ब्रज में। इन रचनाओं के आधार पर ऐसा लगता है, कि स्थानीय बोलियाँ विकसित हो रही थीं और उन्हीं में साहित्य-रचना हो रही थी, किन्तु इन सब में हिन्दी के लक्षण स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रहे थे। इसीलिए इसका नाम पुरानी हिन्दी रखा गया है। यदि अपभ्रंश और हिन्दी के बीच हम अवहट्ट का अस्तित्व स्वीकार भी करते हैं तब भी हम हिन्दी को अपभ्रंश से ही विकसित मानेंगे क्योंकि अवहट्ट हिन्दी की प्राथमिक अवस्था है, कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं। अतः बाद की अपभ्रंश से दसवीं शताब्दी में हिन्दी का विकास हुआ और वह उत्तरोत्तर आगे बढ़ती रही।

साहित्यिक हिन्दी के विकास का अध्ययन करने के लिए उसके इतिहास को तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) आदि काल—१००० ई० सन् से १५०० ई० सन् तक। संक्रांति-काल।

(२) मध्यकाल—१५०० ई० सन् से १८०० ई० सन् तक। व्रज-भाषा-काल।

(३) आधुनिक काल—१८०० ई० सन् से अब तक। खड़ीबोली-काल।

(१) आदि काल :

भाषा के विकास के आधार पर यह हिन्दी का प्रारम्भिक युग है। अपभ्रंश और हिन्दी के विकास की दृष्टि से इसे संक्रांति-काल या संधि-काल कहा जा सकता है। इस काल में भाषा प्राचीन रूप से नवीन रूप में संक्रमण कर रही थी। एक तरफ वह उत्तर-अपभ्रंश के रूपों को छोड़ रही थी, और दूसरी तरफ हिन्दी के प्रारम्भिक रूपों को अपना रही थी।

इस काल की अध्ययन-सामग्री बहुत कम प्राप्त हुई है और जो मिली है, वह पूर्ण रूप से असंदिग्ध नहीं है। ११वीं शताब्दी के शिला-लेख पर लिखा हुआ राउलवेल काव्य सर्वाधिक प्रामाणिक-सामग्री है। इसके अतिरिक्त सिद्धों, नाथों और जैनियों का धार्मिक-साहित्य, चारणों की वीरगाथाएँ तथा नीति और शृंगार के मुक्तक काव्य प्राप्त होते हैं। इस सामग्री का विश्लेषण करने पर इस काल की भाषा के दो रूप मिलते हैं—(१) परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट और (२) देशी भाषा। अवहट्ट भाषा में लिखे विद्यापति की कीर्तिलता तथा उनके पद हैं। सिद्धों, नाथों के धार्मिक साहित्य में भाषा का एक जैसा रूप मिलता है, जो तत्कालीन जन-भाषा का है। गोरखनाथ के छंदों में भाषा का जो रूप मिलता है वह हिन्दी के बहुत समीप है। सिद्धों की रचना में अनेक बोलियों के शब्द मिलते हैं। सन्तों की भाषा आगे चलकर इसी भाषा के आधार पर विकसित हुई।

देशी भाषा के कई स्तर मिलते हैं। एक रूप तो पुरानी हिन्दी या हिन्दवी का है, जिसमें फारसी के शब्दों की अधिकता है। यह एक प्रकार

से खड़ी बोली के अधिक नजदीक है। अमीर खुसरो की रचनाएँ इसी भाषा में हैं। इसका रूप आगे चलकर सन्तों की भाषा में भी दिखलाई पड़ता है।

इसके अलावा दो और स्तर मिलते हैं, जिन्हें डिंगल और पिंगल कहा जा सकता है। प्रादेशिक बोलियों के साथ-साथ ब्रज-भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा चारणों में प्रचलित थी जो पिंगल कहलाती थी। उत्तर-अपभ्रंश और राजस्थानी के सम्मिश्रण से भाषा का एक साहित्यिक रूप राजस्थान में प्रचलित था जो डिंगल कहलाता था। डिंगल भाषा में लिखित चारणों की वीरगाथाएँ प्राप्त होती हैं। पृथ्वीराज रासो, रणमल्ल छंद आदि डिंगल भाषा के काव्य कहे जाते हैं। इन काव्यों में पिंगल के भी उदाहरण बीच-बीच में मिलते हैं। इस प्रकार हिन्दी के प्रारम्भिक काल में भाषा की कई प्रवृत्तियाँ एक साथ दिखलायी पड़ती हैं। इसी काल में हिन्दी भाषा की तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होने लगी थीं। पश्चिमी हिन्दी, जिसमें नामदेव तथा नाथ-सिद्धों ने रचनाएँ कीं। पूर्वी हिन्दी जिसमें चन्दायन लिखा गया, और राजस्थानी हिन्दी जिसमें रासो काव्य लिखे गये। १५ वीं शताब्दी तक आते-आते हिन्दी का रूप बिलकुल स्पष्ट हो गया था, और स्थानीय बोलियों का विकास भी प्रारम्भ हो गया था।

(२) मध्यकाल :

हिन्दी का प्रारम्भिक युग बहुत ही संघर्ष का युग था। इसलिए कतिपय वीर और शृंगार की रचनाओं के अलावा विविध मानवीय भाव की अवतारणा उसमें नहीं हो सकी। परिणामस्वरूप हिन्दी भाषा का बहुमुखी विकास नहीं हो सका। मध्यकाल में राजनैतिक स्थिरता के कारण शान्तिमय वातावरण में भी भाषा को पनपने का अच्छा अवसर मिला और उच्च कोटि की रचनाएँ की गईं। पंडितों के बीच में संस्कृत को ही अधिक सम्मान मिला था, किन्तु सामान्य जन के बीच में

भाषा वहुत लोकप्रिय हो रही थी। इसलिए उस समय के अधिकांश कवियों ने भाषा में ही काव्य-रचना की।

मध्यकाल तीन प्रमुख बोलियाँ थीं : खड़ीबोली, अवधी और ब्रज। खड़ीवोली का मिश्रित रूप कवीर आदि संतों की भाषा में मिलता है, जो एक प्रकार से अनगढ़ कहा जा सकता है। वोल-चाल की भाषा में इसका अधिक प्रयोग होता था। मुसलमानों ने दैनिक व्यवहार के लिए इसी भाषा को अपनाया था। 'चूंकि फारसी उनकी साहित्यिक भाषा थी इसलिए खड़ीबोली उनके वीच साहित्य की भाषा नहीं वन पायी, लेकिन १४ वीं शताब्दी में मुसलमान शासकों के साथ खड़ीबोली दक्षिण में चली गई और वहाँ उसे साहित्यिक भाषा का पद प्राप्त हुआ। इसे लोग दक्खिनी हिन्दी कहते हैं।

इस काल में धार्मिक साहित्य अधिक लिखा गया, जो ब्रज और अवधी में है। सूफी कवि अपने मत का प्रचार सामान्य जनता में करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने ठेठ अवधी में अपना काव्य लिखा। कुतुवन, मंझन, जायसी आदि की काव्य-भाषा अवधी ही है। तुलसीदास राम-चरित्र को सामान्य जन तक पहुँचाना चाहते थे। इसलिए रामचरित-मानस को रचना सामान्य जनता की भाषा अवधी में की, किन्तुं तुलसी की अवधी परिनिष्ठित अवधी है। तुलसीदास ने अवधी को साहित्यिक भाषा की ऊँची प्रतिष्ठा दिलाई। तुलसी के वाद भी अवधी में कुछ रचनाएँ होती रहीं, किन्तु उनका महत्त्व अधिक नहीं हुआ।

ब्रज-भाषा में इस काल में सर्वाधिक रचनाएँ हुई। सारा कृष्ण-काव्य ब्रज-भाषा में लिखा गया। सूरदास ने कृष्ण-चरित्र का ब्रज-भाषा में वर्णन किया जो हिन्दी साहित्य में सर्वोत्कृष्ट रचना है। उत्तर-मध्य काल में रीतिकालीन कवियों ने ब्रज-भापा को अपनाया। देव, बिहारी, घनानन्द जैसे उच्चकोटि के कवियों ने ब्रज-भाषा में रचना करके इसे महानता प्रदान की। कुछ संस्कृत ग्रन्थों और हिन्दी काव्यों की टीकाएँ

भी व्रज-भाषा में लिखी गईं। एक प्रकार से मध्यकाल में व्रज-भाषा का प्राधान्य रहा। इसलिए इसे व्रजभाषा-काल भी कहा जा सकता है।

इस काल में हिन्दी-भाषा की उन्नति तो अवश्य हुई, किन्तु उसे कोई स्थायित्व प्राप्त नहीं हुआ। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि तत्कालीन साहित्यकार अपनी रचनाओं में विदेशी शब्दों का मनमाना प्रयोग करते थे। भाषा एक प्रकार से खिचड़ी-सी हो जाती थी, जिसमें सौंदर्य नष्ट हो जाता था। यह दोष मध्यकाल की लगभग सभी भारतीय भाषा में पाया जाता है।

(३) आधुनिक काल :

मध्यकाल के समाप्त होते-होते व्रज और अवधी का साहित्यिक रूप जन-भाषा से बहुत दूर हो गया था, और जनता धीरे-धीरे खड़ीबोली को अपनाने लगी थी। अंग्रेजों के शासन-काल में व्रज-भाषा को राज्याश्रय भी प्राप्त नहीं हुआ। खड़ीबोली हिन्दी में कुछ रचनाएँ भी प्रारम्भ हुईं। लल्लूलाल और सदल मिश्र ने प्रेम सागर और नासिकेतोपाख्यान खड़ीबोली में लिखा। आगे चलकर इन्शाअल्ला खाँ ने रानी केतकी की कहानी हिन्दवी में लिखी। खड़ीबोली का प्रयोग अधिकतर गद्य-लेखन के लिए होने लगा। खड़ीबोली का प्रयोग पद्य में अमीर खुसरो से ही चला आता था, लेकिन १९ वीं शताब्दी में गद्य-लेखन के लिए इसे अपनाया गया। खड़ीबोली के साथ ही साथ उर्दू का भी प्रचार था जिससे खड़ीबोली को बहुत संघर्ष करना पड़ा। स्वामी दयानन्द, राजा लक्ष्मणसिंह और भारतेंदु हरिश्चन्द्र आदि ने खड़ीबोली के प्रचार के लिए बहुत कार्य किया। २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खड़ीबोली को समृद्ध बनाने में बहुत परिश्रम किया। द्विवेदी जी के समय तक खड़ीबोली हिन्दी साहित्य के गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में प्रयुक्त होने लगी। छायावाद-काल में हिन्दी-भाषा का बहुत अधिक परिमार्जन हुआ और उसे अभिव्यक्ति की

सामर्थ्य मिली। इस तरह हिन्दी आज उच्च साहित्यिक भाषा के रूप में विकसित हुई है। चन्द, विद्यापति, सूर, तुलसी, बिहारी, घनानन्द, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला सभी हिन्दी के विकास की कड़ी में एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।

हिन्दी-ध्वनियों और रूपों का विकास :

हिन्दी-ध्वनियाँ अधिकतर संस्कृत से, प्राकृतादि के माध्यम से आयी हैं। संस्कृत में जो ध्वनियाँ प्रचलित थीं उन्हीं में कुछ और ध्वनियाँ जुड़ीं तथा उनमें से कुछ लुप्त हो गयीं। हिन्दी की वर्तमान व्यंजन-ध्वनियों में पवर्ग, कवर्ग और तवर्ग सबसे प्राचीन हैं। चवर्ग का विकास कवर्ग से माना जाता है। टवर्ग ध्वनियाँ बाद में विकसित हुईं। महाप्राण ध्वनियाँ भी अल्पप्राण की तुलना में बाद में आयीं। ड़ और ढ़ हिन्दी की नयी ध्वनियाँ हैं। संस्कृत और प्राकृत के माध्यम से जो ध्वनियाँ हिन्दी में आयीं उनका उच्चारण-स्थान हिन्दी में वही नहीं रहा जो संस्कृत या प्राकृत में था। संस्कृत के संयुक्त व्यंजन जो पाली में द्वित्त हो गये थे, हिन्दी में इन्हें सरल व्यंजन बना दिया गया। संस्कृत के बहुत सारे शब्दों में ध्वनियाँ परिवर्तित हो गयीं।

स्वरों में संयुक्त स्वर ऐ और औ पाली में रह ही नहीं गये थे। प्राकृत में ये स्वर-संयोग अइ और अउ के रूप में प्रयुक्त हुए। वही प्रवृत्ति हिन्दी में चालू रही। ऑ हिन्दी में नया स्वर है, जो अंग्रेजी से आया है और अंग्रेजी अक्षरों में प्रयुक्त होता है। अरबी-फारसी की ध्वनियों को हिन्दी-ध्वनियों के अनुरूप ढाल लिया गया है। कुछ शुद्धतावादी लोग इन ध्वनियों का उच्चारण मूल जैसा करते हैं, जैसे क़, ख़, ग़, ज़, फ़ आदि।

संस्कृत-व्याकरण बहुत ही जटिल था। संज्ञा, सर्वनाम और विशेषण के तीन-तीन लिंग, तीन-तीन वचन और आठ-आठ कारक थे, जिनके कारण एक-एक शब्द के सैकड़ों रूप बनते थे। विकास-क्रम में हिन्दी

तक आते-आते संज्ञा के दो लिंग, दो वचन और दो कारकीय रूप ही बच रहे। प्राकृत और अपभ्रंश में ही ये रूप कम होते आये थे। विभिन्न विभक्तियों के स्थान पर परसर्गों का प्रयोग होने लगा। ये परसर्ग स्वतन्त्र शब्द के रूप में विकसित हुए। आकारान्त विशेषण, लिंग, वचन में संज्ञा के अनुसार परिवर्तित होते हैं और अन्य विशेषण वैसे ही रहते हैं। संस्कृत के सर्वनामों में लिंग-भेद था जबकि हिन्दी के सर्वनामों में लिंग-भेद नहीं रहा। सम्बन्ध कारक के रूपों का प्रयोग विशेषण जैसा होता है, इसलिए उनमें लिंग-भेद बने रहे। यद्यपि अनेक सर्वनामों की व्युत्पत्ति अभी तक निश्चित नहीं हो पायी है; फिर भी सब का विकास संस्कृत के सर्वनामों से ही हुआ। क्रियाओं के रूप हिन्दी में बहुत सरल हो गये। हिन्दी में संयुक्त क्रियाओं की संख्या में वृद्धि हुई है और ये संयुक्त क्रियाएँ हिन्दी की अपनी विशेषताएँ हैं। संयुक्त क्रियाओं से अभिव्यक्ति में बहुत अधिक समृद्धि आ गयी है।

हिन्दी के सारे अव्यय संस्कृत से ही विकसित हुए हैं। कुछ अव्यय फारसी से भी आये हैं। संस्कृत में वाक्यों में शब्दों का स्थान निश्चित नहीं था, किन्तु अपभ्रंश में ही यह स्थिरीकरण हो गया था। हिन्दी में उसी प्रवृत्ति का विकास हुआ।

इस तरह हम देखते हैं कि ध्वनि, रूप-रचना आदि का विकास संस्कृत से ही हुआ है; किन्तु कुछ नयी बातें भी हिन्दी ने आवश्यकतानुसार ग्रहण कर ली हैं। आज भी निरन्तर हिन्दी इस दिशा में प्रयत्नशील है और नयी-नयी चीजें अपनाती जा रही है।

: ७ :

हिन्दी शब्द-समूह

ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से हिन्दी शब्द-समूह को चार वर्गों में विभाजित किया जाता है—तत्सम, तद्भव, देशी और विदेशी। ये सारे शब्द या तो भारत के हैं या भारत के बाहर के। भारतीय शब्दों के अन्तर्गत ही तत्सम, तद्भव और देशी शब्द आते हैं।

तत्सम उन शब्दों को कहते हैं जो संस्कृत के शुद्ध रूप में प्रचलित हैं। जिस रूप में वे संस्कृत में प्रचलित थे उसी रूप में बिना किसी परिवर्तन के हिन्दी में भी प्रचलित हैं; जैसे—

अग्नि, प्रकाश, माता, सत्याग्रह, क्षेत्र आदि।

तद्भव वे शब्द हैं जो प्राचीन आर्य-भाषा से मध्यकालीन आर्य-भाषाओं में होते हुए वर्तमान रूप में विकसित हुए हैं। इनके मूल रूप में कुछ परिवर्तन हो गया है; जैसे—

आग, खेत, दही, बूंद, माँ, नींद, साग आदि।

देशी शब्द वे हैं जिनका मूल रूप प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा में नहीं मिलता। उनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता। इन शब्दों का विकास आधुनिक काल में हुआ होगा; जैसे—

खिड़की, भिंडी, मेढक, टर्राना आदि।

विदेशी उन शब्दों को कहते हैं जो अरबी, फारसी, तुर्की, अँग्रेजी, पुर्तगाली, फ्रान्सीसी आदि बाहर की भाषाओं से आये हों; जैसे—

कलम, किताब, कुर्सी, डॉक्टर, स्टेशन आदि।

तत्सम :

इसका निर्देश किया जा चुका है कि हिन्दी का विकास संस्कृत से हुआ है। हिन्दी अपने प्रारम्भ से ही संस्कृत से शब्द ले रही है। पुराने लेखकों ने भी संस्कृत के शब्दों को अपनाया है। सूर और तुलसी की भाषा में तत्सम शब्द काफी मात्रा में मिलते हैं। खड़ीवोली हिन्दी के विकास के साथ भाषा में तत्सम शब्दों की संख्या बढ़ने लगी। तत्सम शब्दों के प्रयोग से भाषा में अधिक शुद्धता मानी जाती रही है। हिन्दी में तत्सम शब्दों की संख्या ५०% के आस-पास है। वर्तमान काल में तत्सम शब्दों की संख्या वढ़ती जा रही है।

तत्सम शब्द दो प्रकार के हैं—परम्परागत और निर्मित। परम्परागत वे शब्द हैं जो संस्कृत-साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं और उसी रूप में आज हिन्दी में भी प्रयुक्त हो रहे हैं। सम्भव है इनका प्रयोग बीच में न होता रहा हो और हिन्दी में इनका पुनरुद्धार हुआ हो, लेकिन ये शब्द संस्कृत-साहित्य से ही लिए गए हैं। वेद तथा उपनिषद में प्रयुक्त वहुत सारे शब्द आज भी हिन्दी में उसी रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं; उदाहरणार्थ—

अकाल, अक्षर, अग्नि, अंक, अंग, अतिथि, अधर, अनन्त, अनुचर, अनुरूप, अनुवाद, अन्तरिक्ष, अन्न, अपूर्व, अभिषेक, अर्थ, अलंकार, अश्लील, अहिंसा, सूर्य, चन्द्रमा, गिरि, नदी, रात्रि, दिवस, सायं, प्रातः, ऊषा, ग्रीष्म, वर्षा, दुग्ध, दधि, फल, वर्ण, गोत्र, जाति, कृषि, मन्त्र, दुःख, पुण्य, पाप, श्रद्धा, शान्ति, सर्प, कलश, आचार्य, युवा, वृद्ध, पुरोहित, शत्रु, हस्त, चरण, रक्त, मांस, शब्द, नूतन, देवता, असुर, ब्रह्म, क्षत्रिय, विद्या, सत्य आदि।

वेद, ब्राह्मण, संहिता तथा उपनिषद आदि में ऐसे हजारों शब्द हैं जो आज अपने उसी रूप में साहित्यिक हिन्दी में प्रयुक्त हो रहे हैं। संसार की किसी भी भाषा में तीन-चार हजार वर्ष से चले आते हुए शब्द अविकृत रूप में, इतनी वड़ी संख्या में नहीं मिलेंगे।

निर्मित तत्सम शब्द वे हैं जो नये विचारों और कार्यों को प्रकट करने के लिए संस्कृत-व्याकरण के अनुसार समय-समय पर गढ़ लिए गए हैं। वैज्ञानिक शब्दावली के लिए हजारों की संख्या में पारिभाषिक शब्द संस्कृत स्रोतों से निर्मित किए गए। छायावादी साहित्यकारों तथा आधुनिक कवियों और लेखकों ने भी इसी प्रकार के शब्दों की रचना की है। अधीक्षक, अभियन्ता, शासकीय, केन्द्रीय आदि ऐसे ही शब्द हैं। शिक्षा-प्रसार और यातायात के विस्तार के कारण सारे देश में एक समान शब्दावली की जरूरत है। लोगों और शासन की ओर से यह प्रयत्न हो रहा है। इस प्रकार की शब्दावली का निर्माण संस्कृत के आधार पर हो रहा है, क्योंकि संस्कृत में शब्द-निर्माण की बहुत बड़ी क्षमता है।

तद्भव :

संस्कृत के शब्द प्राकृत के माध्यम से हिन्दी में आते-आते घिस कर परिवर्तित हो गये। उनकी ध्वनियाँ बदल गयीं। इस प्रकार के तद्भव शब्दों के साथ हिन्दी की उत्पत्ति हुई और अठारहवीं शताब्दी तक उसमें तद्भव शब्दों की ही प्रधानता रही। हिन्दी प्रदेश की बोलियों में अब भी आनुपातिक दृष्टि से तद्भव शब्दावली की अधिकता है। खड़ीबोली के विकास के साथ हिन्दी में कृत्रिमता आने लगी और तत्सम शब्दों की वृद्धि होने लगी। परिणामस्वरूप तद्भव और देशी शब्दों का प्रयोग घटने लगा। कबीर, जायसी, तुलसी, सूर, बिहारी, भारतेन्दु, प्रसाद, पंत की भाषा में तद्भव शब्दों का क्रमशः ह्रास दिखायी पड़ता है। चिट्ठी, नेवता, नेह, पीर, खेत, दूध के स्थान पर क्रमशः पत्र, निमन्त्रण, स्नेह, पीड़ा, क्षेत्र और दुग्ध का प्रयोग अधिक शिष्ट समझा जाने लगा। प्रारम्भ में तत्सम का प्रयोग साहित्य में बढ़ा, किन्तु धीरे-धीरे अब बोल-चाल की भाषा में भी इसका प्रयोग होने लगा है। फिर भी सामान्य और बोल-चाल की भाषा में तद्भव शब्दों की ही प्रधानता है।

तद्भव शब्दों का प्रयोग हिन्दी में इतनी सहजता से होता रहा है कि वे भाषा के अंग बन गये हैं और उनके स्वतन्त्र अर्थ का विकास हो गया है ; जैसे—

तत्सम	तद्भव
चक्र	चाक (कुम्हार का)
रश्मि	रस्सी
स्थान	थान (देवता का)
गर्भिणी	गाभिन
वामन	बौना
वंश	बाँस

इन शब्दों का प्रयोग भाषा में अनिवार्य हो गया है। इन्हें किसी भी प्रकार से हिन्दी से निकाला नहीं जा सकता। हिन्दी के सभी सर्वनाम तद्भव ही हैं। अव्यय भी तद्भव हैं। यहाँ, जहाँ, कहाँ, वहाँ, अब, जब, कब, चाहे, मानो, तक, नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, ऐसे, जैसे, और आदि तद्भवों के स्थान पर तत्सम शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार नीचे लिखे तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम का प्रयोग अनुपयुक्त ही होगा—

ओढ़ना, कपड़ा, कान, काका, खाट, घोड़ा, चमार, चाचा, छलनी, झूला, नाक, नाई, वेलन, बहिन, भाई, मक्खी, मामा, सास, रुई, हाथ, पाँव, बैल, दाल, भात, साग, सुई, बिच्छू, भाड़ा, कुम्हार, गेंद, खुजली, गेहूँ, खोदना, चुनना, छोड़ना, जानना, ताकना, थामना, देखना, पड़ना, पूछना, बूझना, लड़ना, सुनना।

विदेशी :

हिन्दी भाषा का प्रारम्भ ग्यारहवीं शताब्दी से होता है और तभी से भारत पर लगभग एक हजार वर्ष तक विदेशियों का शासन रहा।

प्रारम्भ में हिन्दी प्रदेश पर अरबों, ईरानियों, तुर्कों और पठानों का प्रभुत्व रहा और बाद में सत्रहवीं शताब्दी से डच, पुर्तगाल और फ्रांसीसी लोगों का प्रभाव पड़ा। मुस्लिम और अंग्रेज शासकों के काल में विदेशी भाषाएँ शिक्षा और शासन का माध्यम थीं। प्रारम्भ में लोगों ने नौकरी-पेशा के रूप में इन भाषाओं को अपनाया, किन्तु बाद में यह शिक्षित लोगों के लिए अनिवार्य-सी हो गयी। मुसलमानी काल में फारसी और अंग्रेजी काल में अंग्रेजी भारत की राजभाषा थी। हिन्दी ने लगभग छः सौ वर्ष तक फारसी का और दो सौ वर्ष तक अंग्रेजी का प्रभाव ग्रहण किया। अरबी, फारसी, मुसलमान भारतीय जनता के साथ इतने घुल-मिल गये थे कि उनकी भाषा के हजारों शब्द हिन्दी में सहज ही आ गये। लगभग ढाई हजार शब्द हिन्दी में फारसी के माध्यम से आये, जिनमें तुर्की और अरबी के भी शब्द हैं। ये शब्द धर्म-सम्बन्धी, शासन-सम्बन्धी, शिक्षा-सम्बन्धी, कला और विज्ञान-सम्बन्धी, व्यावसायिक और नयी वस्तुओं के लिए हैं। नीचे कुछ शब्दों की सूची दी जा रही है :—

अरबी-फारसी—रोजा, कलमा, काजी, दरगाह, मजहब, अदालत, गवाह, इस्तीफा, कानून, जासूस, दफ्तर, तनखाह, नौकर, फौज, सिक्का, मोर्चा, सिपाही, वकील, कलम, किताब, कैंची, जुलाहा, तराजू, दर्जी, हलवाई, तबला, सितार, दवा, मरीज, चादर, रुमाल, तकिया, प्याला, जलेबी, सुराही, समोसा, कालीन, कुर्सी, आईना, इत्र, गुलाब, कमर, कलेजा, मुर्ग, अनार, अंगूर, अमरूद, कमबख्त, बदमाश, नालायक, उम्र, गन्दगी, एहसान, गुस्सा, मौका, शरारत, असली, गलत, बेईमान, कबूलना, खरीदना, गुजरना, बदलना, शर्माना, करीब, जल्दी, हमेशा, चूंकि, लेकिन, शाबास आदि।

अरबी-फारसी के उपसर्ग और प्रत्यय सभी हिन्दी में प्रचलित हैं; जैसे—कम (कमजोर), खुश (खुशबू), गैर (गैरसरकारी), ना (नासमझ), बद (बदमाश), बे (बेकाम), हर (हरघड़ी),

ई (ठंढी), दान (थूकदान); दार (समझदार), वान (गाड़ीवान), वन्द (हथियारबन्द)।

तुर्की—आका, उर्दू, कावू, कुली, चमचा, तमगा, तोप, दारोगा, वहादुर, वावर्ची, बीबी, लाश आदि।

इन शब्दों को हिन्दी ने अपने रूप में ढाल लिया और इनकी ध्वनियों का हिन्दीकरण कर लिया। फारसी ध्वनि क़ ख़ ग़ ज़ फ़ आदि को क, ख, ज, ग, फ वना लिया। कवीर की रचना में फारसी के शब्द इस प्रकार मिलते हैं—

कागद, नियाज, परेसानी, जबाबु, भिसत, खुसी, नजीकि, हदूरि आदि।

अंग्रेजी—अंग्रेजी शासन में अंग्रेजी ही शासन और शिक्षा का माध्यम थी जिसके कारण भाषा के प्रत्येक स्तर पर इसका प्रभाव पड़ा। वैसे अंग्रेजी ने अधिक प्रभाव शिक्षित लोगों की भाषा पर ही डाला है। हजारों अंग्रेजी के शब्द हिन्दी में प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ कुछ नीचे दिये जा रहे हैं—अपील, अर्दली, कोरट, पुलिस, वारण्ट, परेड, इंजन, टेसन, रेल, टिकट, अस्पताल, अफसर, क्लर्क, इन्जीनियर, कालेज, फीस, मास्टर, स्कूल, पेन्सिल, कफ, कोट, वूट, सिगरेट, माचिस, रेडियो, सिनेमा, मोटर, साइकिल, पेट्रोल, फाइल आदि।

पुर्तगाली—अचार, आलमारी, आया, कमीज, काजू, कमरा, गमला, चावी, तौलिया, नीलाम, पिस्तौल, बाल्टी, मेज, संतरा।

फ्रान्सीसी—अंग्रेज, कार्तूस, कूपन।

चीनी—चाय, लीची।

जापानी—झंपान, रिक्शा।

देशी :

देशी को देशज भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत वे शब्द आते हैं जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत से सिद्ध नहीं होती। कुछ विद्वान, देशी उन

शब्दों को कहते हैं जो अनार्य-भाषाओं से आये हुए हों। वस्तुतः देशी शब्दों के सम्बन्ध में लोग एकमत नहीं हैं, किन्तु यह देखा जाता है कि जिन शब्दों का मूल संस्कृत में नहीं मिलता, उन्हें देशी कहते हैं, चाहे वे अनार्य भाषा के हों या बोलियों के हों। बहुत से देशी शब्द बोलियों में प्रचलित मिलते हैं। कुछ शब्दों की सूची यहाँ प्रस्तुत की जा रही है—

आटा, चावल, भूसा, कद्दू, सोंटा, जंजाल, गुहार, अटकना, फीका, चोंगा, टीला, गुड़, टाँग, वैंगन आदि।

ध्वनि के अनुकरण पर शब्द बनाने की प्रवृत्ति बहुत पुरानी है। सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जो ध्वनियों के अनुकरण पर बने हैं। इन्हें भी देशी शब्द कहा जाता है; उदाहरणार्थ—

काँय-काँय, खुसुर-फुसुर, खनक, डकार, झनकार, खिलखिलाना, ढिंढोरा, धक्का, गड़बड़, थोथा, पिलपिला, फटक, धमक आदि।

उन शब्दों को भी देशी कहा जाता है जो दो भाषाओं के शब्दों से जोड़कर बनाये जाते हैं। इन्हें वर्णसंकर या दोगले शब्द भी कहते हैं; जैसे—

चोरदरवाजा (हिन्दी-फारसी), जेबघड़ी (फारसी-हिन्दी), तिमाही (हिन्दी-फारसी), डाकखाना (अंग्रेजी-फारसी), रेलयात्रा (अंग्रेजी-हिन्दी), फूलदान (हिन्दी-फारसी), राजमहल (हिन्दी-फारसी) इत्यादि।

पुरानी हिन्दी में तद्भव शब्दों की संख्या आधे से ज्यादा है। वैसे आजकल तत्सम शब्द बढ़ते जा रहे हैं। पुरानी हिन्दी में शब्दों का अनुपात इस प्रकार है—

तद्भव—६० प्रतिशत

तत्सम—१५ प्रतिशत

देशी—१५ प्रतिशत
विदेशी—१० प्रतिशत

आधुनिक हिन्दी में तत्सम ४५ प्रतिशत और तद्भव ३० प्रतिशत हैं। हिन्दी का शब्द-भण्डार दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है और इसमें हर प्रकार की अभिव्यक्ति के लिए अपूर्व क्षमता आती जा रही है। शब्द-भण्डार की दृष्टि से हिन्दी भाषा बहुत ही समृद्ध और सक्षम भाषा है।

: ८ :

हिन्दी की बोलियां

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी मध्यदेश की भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश से विकसित हुई है। मध्यदेश, वस्तुतः छोटे-छोटे जनपद का समूह है। पुराने कुरु, पांचाल, शूरसेन, अवन्ति, काशल, मगध आदि छोटे-छोटे जनपद थे, जो आज बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, हरियाना जैसे शासकीय विभागों में बंटे हुए हैं। इन जनपदों की सीमाएँ समय-समय पर घटती-बढ़ती रही हैं। प्रत्येक जनपद की अलग-अलग भाषा थी, किन्तु उनमें आपस का सम्वन्ध भी था और वे एक-दूसरे की भाषा समझते थे। हिन्दी की बोलियाँ हजारों वर्ष से अस्तित्व में हैं और ये अपने क्षेत्र में विकसित होती रही हैं। इनके बीच में एक सामान्य भाषा भी थी जो केन्द्र की प्रवलता के अनुसार वदलती रही है। कभी व्रजभाषा इस समूचे क्षेत्र की सांस्कृतिक भाषा थी और अव खड़ीबोली इस विशाल क्षेत्र की सामान्य भाषा वनी है।

वस्तुतः जिसे हम हिन्दी कहते हैं वह इस समूचे क्षेत्र पर छाई हुई है, किन्तु इसके साथ ही साथ स्थानीय वोलियाँ भी हैं। स्थानीय बोलियों में परस्पर बोधगम्यता है और वे एक-दूसरे से प्रभावित भी हैं। हिन्दी-बोलियो का जो वर्गीकरण किया जाता है वह बोधगम्यता के आधार पर होता है। जिन वोलियों में परस्पर वोधगम्यता अधिक है उन्हें एक वर्ग की वोलियाँ मानते हैं। इस प्रकार समस्त हिन्दी-बोलियों को पांच वर्गों में विभाजित किया जाता है, जिन्हें उपभाषा कहते हैं। यह वर्गीकरण नीचे दिया जा रहा है।
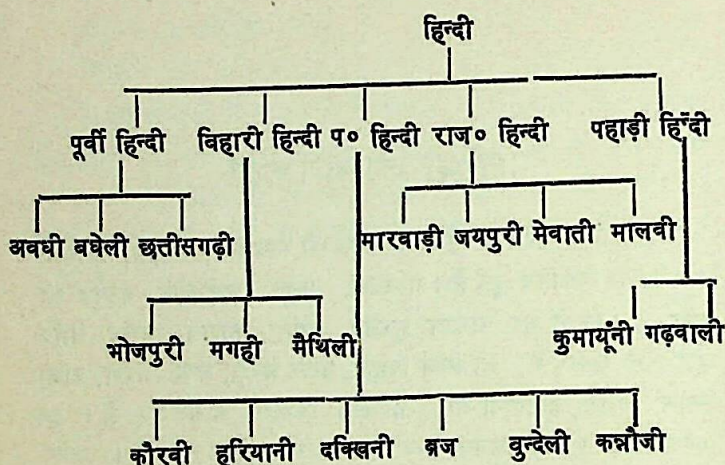
(१) अवधो :

यह हिन्दी-बोलियों में एक प्रधान और प्रतिनिधि बोली है, जिसका विकास अर्धमागधी से हुआ है। अयोध्या से अवध बना और उसी से इसका नाम अवधी पड़ा। इसका दूसरा नाम कोसली भी है। अयोध्या और उसके आस-पास का प्रान्त कोशल कहलाता था। इस बोली का प्रचार लखीमपुर, खीरी, बहराइच, गोंडा, बाराबंकी, लखनऊ, सीतापुर, उन्नाव, फैजाबाद, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़ और रायबरेली जिले में है। जौनपुर और मिर्जापुर के पश्चिमी भाग तथा गंगा के दाहिने किनारे फतेहपुर तथा इलाहाबाद में भी अवधी बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग एक करोड़ ८० लाख है। इसका साहित्य बहुत समृद्ध है, और १२वीं शताब्दी से इसका साहित्य प्राप्त होता है। मुल्ला दाऊद का चन्दायन, जायसी का पद्मावत, तुलसी का रामचरितमानस आदि इस बोली के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

इसकी ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) इसमें ह्रस्व ए और ओ ध्वनियाँ हैं।

(२) तालव्य श् तथा मूर्धन्य ष् के स्थान पर दन्त्य स् का प्रयोग होता है ।

(३) ण् के स्थान पर न् प्रयुक्त होता है ।

रूप-सम्बन्धी विशेषताएँ यह हैं—

(१) संज्ञा शब्दों के तीन-तीन। रूप मिलते हैं—जैसे घोर, घोरवा, घोरौना ।

(२) संज्ञाओं के बहुवचन न् अथवा न्ह जोड़कर बनाये जाते हैं—जैसे लरिका-लरिकन्ह ।

(३) विशेषण प्रायः मूल में व्यंजनान्त हो जाते हैं—जैसे नीक्-बड़् ।

इसकी एक उपबोली भी है जो बैसवाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है ।

(२) बघेली :

बघेलखण्ड की भाषा है जिसका केन्द्र रीवाँ है । इसकी सीमा मध्य-प्रदेश, उत्तर प्रदेश के संधि-स्थल से लेकर दक्षिण में बालाघाट तक, पश्चिम में दमोह और पूर्व में मिर्जापुर तक फैली हुई है । इसके बोलने वाले लगभग ५० लाख हैं । इसमें साहित्य बहुत कम है । कुछ धार्मिक ग्रंथ, लोकगीतों और कथाओं के संग्रह मिलते हैं ।

इसमें अवधी की अपेक्षा व से ब उच्चारण करने की प्रवृत्ति अधिक है । विशेषण के निर्माण में विशेषण के साथ हा जुड़ता है—जैसे अधिकहा, नीकहा आदि । इस बोली के क्षेत्र के लोगों ने साहित्यिक भाषा के रूप में अवधी को ही अपनाया है । यह एक प्रकार से अवधी बोली का ही दक्षिणी रूप है ।

(३) छत्तीसगढ़ी :

यह मध्यप्रदेश में रायपुर, बिलासपुर, कांकेर, नन्दगाँव, रायगढ़, उदयपुर तथा जयपुर आदि के कुछ क्षेत्रों में बोली जाती है । इसके बोलने वालों की संख्या ६६ लाख है । इसमें प्राचीन साहित्य कुछ भी नहीं है ।

आधुनिक युग में कुछ लोकगीत आदि मिलते हैं। इस भाषा के क्षेत्र में आदिवासी रहते हैं, जिनकी बोलियों का प्रभाव दिखायी पड़ता है। इसके अलावा मराठी, तेलुगू और उड़िया का प्रभाव भी इस पर देखा जा सकता है। संज्ञा, सर्वनामों में, करण-संप्रदानों में 'ला' और करण अपादान में 'ले' छत्तीसगढ़ी के विशेष परसर्ग हैं। सामान्य रूप से 'मन' या 'मनन' जोड़कर संज्ञा, सर्वनाम के बहुवचन बनाये जाते हैं। विशेषणों और क्रियाओं के रूप बहुत कुछ अवधी से मिलते-जुलते हैं।

(४) भोजपुरी :

भोजपुरी क्षेत्र के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के बनारस, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, देवरिया, आजमगढ़ तथा बिहार के शाहाबाद, सारन, राँची, चम्पारन जिले आते हैं। शाहाबाद में भोजपुर नाम का कस्बा है जिसके नाम पर इस बोली का नाम भोजपुरी पड़ा। भोजपुर पुराने जमाने में संभवतः किसी राजा की राजधानी था। यह हिन्दी की सबसे बड़ी बोली है। बोलने वालों की संख्या २ करोड़ ७१ लाख है। भोजपुरी का पुराना संत-साहित्य प्राप्त होता है जिसमें धरमदास, धरणीदास, शिवनारायण आदि की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। वर्तमान काल में इस बोली में कुछ नाटक, कहानी और कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। भोजपुरी बोली में सिनेमा भी बने हैं। 'बिदेशिया' भोजपुरी का बहुत ही प्रिय गीति-नाटक है।

भोजपुरी में मध्य 'र' का लोप होता है—जैसे लड़का लरिका)। बहुवचन में संज्ञाएँ अपरिवर्तित रहती हैं। कभी-कभी संज्ञा के आगे लोग या लोगन जोड़ देते हैं। भूतकालिक क्रिया-रूपों में 'इल' और वर्तमान-कालिक में 'ला' परसर्ग लगता है—जैसे, खाइल-खाया। खाला-खाता है।

(५) मगही :

मगही, मागधी का वर्तमान नाम है। यह बोला पटना, गया,

हजारीबाग, मुंगेर और भागलपुर जिले में बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ६० लाख है। इस बोली में भी अधिक ललित साहित्य नहीं है। बाबा मोहनदास और हेमनाथ संत-कवियों की कुछ रचनाएँ अवश्य ही प्रचलित हैं। वर्तमान काल में जयनाथपति की रचनाएँ प्रसिद्ध हुई हैं।

मगही और भोजपुरी में बहुत ही कम अन्तर है। लिंग, वचन के रूपों; संज्ञा, सर्वनाम आदि के परसर्ग भोजपुरी के समान हैं। सर्वनाम में आप के लिए 'रउवाँ' का प्रयोग होता है। कुछ रूपों में यह मैथिली से मिलती-जुलती है।

(६) मैथिली :

वैशाली और विदेह के पुराने जनपदों का संयुक्त प्रदेश मिथिला है। इस प्रदेश के एक बड़े महान राजा जनक का उल्लेख मिलता है। मैथिली इसी प्रदेश की बोली है। इसका क्षेत्र दरभंगा, मुजफ्फरपुर, पूर्निया, उत्तरी मुंगेर तथा नैपाल की तराई तक है। मैथिली बोलने वालों की संख्या लगभग १ करोड़ १० लाख है। मैथिली का पुराना साहित्य प्राप्त होता है। विद्यापति, गोविन्ददास, रणजीत लाल, साहेब रामदास आदि की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। आधुनिक काल में चन्दा झा और हरिमोहन झा आदि मैथिली के अच्छे साहित्यकार हैं।

मैथिली के सभी शब्द स्वरान्त होते हैं। मध्य श्, ष्, और स् के स्थान पर ह् का उच्चारण होता है—जैसे पुहुप, माहटर आदि। अवधी के समान इसमें भी संज्ञा के तीन रूप होते हैं। इसके क्रिया-रूप बहुत जटिल हैं। ऐ, औ से अन्त होने वाले क्रिया-रूपों में क जोड़ दिया जाता है—जैसे सुतलिऐक (मैं सोया)। सहायक क्रियाएँ छ (वर्तमान, ल (भूतकाल) और ब (भविष्य है।

(७) व्रजभाषा :

पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में ही नहीं, बल्कि हिन्दी की सभी

बोलियों में ब्रजभाषा प्रधान है। इसका प्रभाव पश्चिमी हिन्दी पर तो है ही, राजस्थानी, गुजराती पर भी है। यह ब्रजमण्डल की प्रमुख भाषा है। इसका क्षेत्र एटा, मैनपुरी, बदायूं, बरेली, धौलपुर, गुड़गाँवा, भरतपुर, मथुरा, अलीगढ़, आगरा तक है। ब्रजभाषा का केन्द्र मथुरा और आगरा है। इसकी कई स्थानीय बोलियाँ हैं—भुक्सा, अन्तर्वेदी, डाँगी, जादोवाटी। इनमें कुछ स्थानीय विशेषताएँ हैं। ब्रजभाषा का प्राचीन साहित्य चौदहवीं शताब्दी से मिलता है। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल का साहित्य ब्रजभाषा का ही साहित्य है। ब्रजभाषा, मध्यकाल में सारे उत्तर और मध्य भारत की साहित्य, संस्कृति की भाषा रही है। इसके प्रमुख साहित्यकार सूरदास, तुलसीदास, बिहारी, घनानन्द, रत्नाकर आदि हैं। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग एक करोड़ पचीस लाख है।

ब्रजभाषा की विशेष ध्वनि है ऐ और औ। खड़ीबोली में जहाँ ए और ओ होता है ब्रजभाषा में वहाँ ऐ और औ होता है। अधिकतर शब्द उकारान्त होते हैं—जैसे करमु, सबु, घरु आदि। सर्वनामों में हौं (उ० पु० एकव०) का प्रयोग विशेष है। क्रिया-रूप में वर्तमान काल में हूँ के स्थान पर हौं होता है। था, थी के लिए हुतो, हुती शब्द हैं।

(८) खड़ीबोली :

इसके अन्य नाम कौरवी, हिन्दुस्तानी या सरहिन्दी हैं। अब यह खड़ीबोली के नाम से ही प्रसिद्ध है। सामान्य रूप से उत्तर भारत की बोल-चाल की भाषा खड़ीबोली है। एक क्षेत्र-विशेष की बोली के लिए 'कौरवी' नाम अधिक उपयुक्त है। इसका क्षेत्र देहरादून, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ और बुलन्दशहर के जिले हैं। कौरवी का मुख्य केन्द्र मेरठ है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग १ करोड़ है। इस बोली में बहुत अधिक ललित साहित्य नहीं है। आजकल कुछ साहित्य इसमें लिखा जाता है। इसी बोली का विकसित रूप साहित्यिक हिन्दी

है, जो अब राष्ट्र-भाषा बन गयी है। खड़ीबोली (कौरवी) तथा साहि-त्यिक हिन्दी में बहुत अधिक अन्तर है।

इस बोली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके अधिकतर शब्द आकारान्त होते हैं। अवधी अकारान्त, व्रज ओकारान्त और कौरवी आकारान्त-प्रधान बोलियाँ हैं। संयुक्त स्वर ऐ और औ का उच्चारण सामान्य स्वर ए और ओ जैसा होता है। इसकी एक विशेषता यह है कि साहित्यिक हिन्दी के स्वर मध्यम व्यंजनों का उच्चारण द्वित्व होता है— जैसे बेट्टा, राण्णी, लोट्टा, बाप्पू आदि। क्रिया-रूप साहित्यिक हिन्दी की तरह हैं केवल भूतकाल एकवचन में रहा, चला के स्थान पर रह्या, चल्या जैसे रूप मिलते हैं।

(६) हरियानी :

प्राचीन काल में दिल्ली के उत्तर और पश्चिम भाग को कुरुक्षेत्र कहा जाता था। आजकल इसे हरियाना कहा जाता है। हरियानी इसी प्रान्त की बोली है। इसके अन्तर्गत दिल्ली ,प्रदेश, रोहतक, करनाल, जींद, नाभा, हिसार, पटियाला आदि जिले आते हैं। करनाल के अन्तर्गत बाँगर स्थान के नाम पर इस बोली का नाम बाँगरू भी है। इसके बोलने वाले लगभग ३५ लाख हैं। इसका कोई विशेष साहित्य नहीं है। कुछ लोकगीतों के संग्रह अवश्य ही प्रकाशित हुए हैं।

कौरवी और हरियानी बोलियों में बहुत अधिक साम्य है। ध्वनियों में कोई अन्तर नहीं है। संज्ञा-रूपों के बहुवचन में फर्क है। हरियानी में बहुवचन-आँ जोड़ कर बनता है—जैसे घर से घराँ। इसमें 'के लिए' कारक चिह्न के स्थान पर 'की ल्याँ' प्रयुक्त होता है। सहायक क्रिया है, हैं, हूँ, हो के स्थान पर सै, सैं, सूँ, सो का प्रयोग होता है। क्रिया के वर्तमान कृदन्त रूप ता के साथ दा का भी प्रयोग मिलता है—जैसे करता-करदा, मारता-मारदा।

बोलियों में व्रजभाषा प्रधान है। इसका प्रभाव पश्चिमी हिन्दी पर तो है ही, राजस्थानी, गुजराती पर भी है। यह व्रजमण्डल की प्रमुख भाषा है। इसका क्षेत्र एटा, मैनपुरी, बदायूं, बरेली, धौलपुर, गुड़गाँवा, भरतपुर, मथुरा, अलीगढ़, आगरा तक है। व्रजभाषा का केन्द्र मथुरा और आगरा है। इसकी कई स्थानीय बोलियाँ हैं—भुक्सा, अन्तर्वेदी, डाँगी, जादोवाटी। इनमें कुछ स्थानीय विशेषताएँ हैं। व्रजभाषा का प्राचीन साहित्य चौदहवीं शताब्दी से मिलता है। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल का साहित्य व्रजभाषा का ही साहित्य है। व्रजभाषा, मध्यकाल में सारे उत्तर और मध्य भारत की साहित्य, संस्कृति की भाषा रही है। इसके प्रमुख साहित्यकार सूरदास, तुलसीदास, बिहारी, घनानन्द, रत्नाकर आदि हैं। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग एक करोड़ पचीस लाख है।

व्रजभाषा की विशेष ध्वनि है ऐ और औ। खड़ीबोली में जहाँ ए और ओ होता है व्रजभाषा में वहाँ ऐ और औ होता है। अधिकतर शब्द उकारान्त होते हैं—जैसे करमु, सबु, घरु आदि। सर्वनामों में हौं (उ० पु० एकव०) का प्रयोग विशेष है। क्रिया-रूप में वर्तमान काल में हूँ के स्थान पर हौं होता है। था, थी के लिए हुतो, हुती शब्द हैं।

(८) खड़ीबोली :

इसके अन्य नाम कौरवी, हिन्दुस्तानी या सरहिन्दी हैं। अब यह खड़ीबोली के नाम से ही प्रसिद्ध है। सामान्य रूप से उत्तर भारत की बोल-चाल की भाषा खड़ीबोली है। एक क्षेत्र-विशेष की बोली के लिए 'कौरवी' नाम अधिक उपयुक्त है। इसका क्षेत्र देहरादून, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ और बुलन्दशहर के जिले हैं। कौरवी का मुख्य केन्द्र मेरठ है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग १ करोड़ है। इस बोली में बहुत अधिक ललित साहित्य नहीं है। आजकल कुछ साहित्य इसमें लिखा जाता है। इसी बोली का विकसित रूप साहित्यिक हिन्दी

हैं, जो अब राष्ट्र-भाषा बन गयी है। खड़ीबोली (कौरवी) तथा साहित्यिक हिन्दी में बहुत अधिक अन्तर है।

इस बोली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके अधिकतर शब्द आकारान्त होते हैं। अवधी अकारान्त, व्रज ओकारान्त और कौरवी आकारान्त-प्रधान बोलियाँ हैं। संयुक्त स्वर ऐ और औ का उच्चारण सामान्य स्वर ए और ओ जैसा होता है। इसकी एक विशेषता यह है कि साहित्यिक हिन्दी के स्वर मध्यम व्यंजनों का उच्चारण द्वित्व होता है—जैसे बेट्टा, राण्णी, लोट्टा, बाप्पू आदि। क्रिया-रूप साहित्यिक हिन्दी की तरह हैं केवल भूतकाल एकवचन में रहा, चला के स्थान पर रह्या, चल्या जैसे रूप मिलते हैं।

(६) हरियानी :

प्राचीन काल में दिल्ली के उत्तर और पश्चिम भाग को कुरुक्षेत्र कहा जाता था। आजकल इसे हरियाना कहा जाता है। हरियानी इसी प्रान्त की बोली है। इसके अन्तर्गत दिल्ली ,प्रदेश, रोहतक, करनाल, जींद, नाभा, हिसार, पटियाला आदि जिले आते हैं। करनाल के अन्तर्गत बाँगर स्थान के नाम पर इस बोली का नाम बाँगरू भी है। इसके बोलने वाले लगभग ३५ लाख हैं। इसका कोई विशेष साहित्य नहीं है। कुछ लोकगीतों के संग्रह अवश्य ही प्रकाशित हुए हैं।

कौरवी और हरियानी बोलियों में बहुत अधिक साम्य है। ध्वनियों में कोई अन्तर नहीं है। संज्ञा-रूपों के बहुवचन में फर्क है। हरियानी में बहुवचन-आँ जोड़ कर बनता है—जैसे घर से घराँ। इसमें 'के लिए' कारक चिह्न के स्थान पर 'की ल्याँ' प्रयुक्त होता है। सहायक क्रिया है, हैं, हूँ, हो के स्थान पर सै, सैं, सूं, सो का प्रयोग होता है। क्रिया के वर्तमान कृदन्त रूप ता के साथ दा का भी प्रयोग मिलता है—जैसे करता-करदा, मारता-मारदा।

(१०) दक्खिनी :

दिल्ली के बादशाहों ने चौदहवीं शताब्दी में दिल्ली के आस-पास के कुछ लोगों को दौलताबाद (दक्षिण) में ले जाकर बसाया । आगे चलकर वहीं हैदराबाद के निजाम राज्य की स्थापना हुई। वहाँ पर बसे हुए लोग राज्य का कार्य अपनी भाषा में करते रहे। ऐसे फिर से बसाये हुए लोग धीरे-धीरे पूरे महाराष्ट्र और आन्ध्र में फैल गये। इनकी भाषा को दक्खिनी कहा गया है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ४० लाख के होगी। कुछ लोग इसे दक्खिनी हिन्दी भी कहते हैं । पिछले तीन-चार सौ वर्षों तक दक्खिनी हैदराबाद राज्य के शासन, शिक्षा और साहित्य का माध्यम रही। ख्वाजा बन्दानयाज, गेसूदराज, निजामी, वजही, वली आदि अच्छे साहित्यकार हो चुके हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में दक्खिनी का स्थान उर्दू ने ले लिया, किन्तु बोली के रूप में अब भी इसका प्रचलन है ।

दक्खिनी और कौरवी में बहुत कम अन्तर है। ड़ के स्थान पर ड का प्रयोग अधिक प्रचलित है। कौरवी के ही रूपों का प्रयोग किंचित् परिवर्तन के साथ होता है। दक्खिनी का साम्य हरियानी और पंजाबी से भी है। मराठी का प्रभाव भी इस बोली पर है।

(११) बुन्देली :

पुराने बुन्देलखण्ड की भाषा बुन्देली या बुन्देलखण्डी है । यहाँ पर १४ वीं शताब्दी से ही बुन्देला राजपूतों का शासन रहा है। इसके अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के बाँदा, उरई, हमीरपुर, जालौन, झाँसी तथा मध्य प्रदेश के ग्वालियर, भोपाल, ओरछा, पन्ना, दतिया, सागर, टीकमगढ़, नरसिंहपुर, सिउनी, छिन्दवाड़ा, होशंगाबाद और बालाघाट के जिले आते हैं। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ६० लाख है । बुन्देली-क्षेत्र के साहित्यकारों ने सर्वदा व्रजभाषा में रचना की है, किन्तु ऐन०

साईं, इसुरी तथा गंगाधर की रचनाएँ ठेठ बुन्देली में हैं । बहुत सारे लोकगीत बुन्देली के प्रचलित हैं ।

बुन्देली का सम्बन्ध ब्रजभाषा से है । ध्वनि और रूप में ब्रजभाषा से काफी साम्य है । सहायक क्रिया अऊँ (हूँ), आँय (हैं), तो ते ती (था थे थी) हैं । बुन्देली में देशी शब्द कुछ ऐसे हैं जो हिन्दी की किसी अन्य बोली में नहीं मिलते ।

(१२) कन्नौजी :

कन्नौज पहले एक जनपद या प्रदेश था जो अब उत्तर प्रदेश में है । पुराने कन्नौज की भाषा कन्नौजी है । इस बोली का क्षेत्र पूर्व में कानपुर, दक्षिण में जमुना नदी, उत्तर में गंगापार हरदोई, शाहजहाँपुर, पीलीभीत तक है । ब्रजभाषा और कन्नौजी का क्षेत्र मिला हुआ है । इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ४५ लाख होगी । कुछ विद्वान इसे ब्रजभाषा की एक बोली मानते हैं । कन्नौजी में पुराना साहित्य नहीं है । इधर कुछ लोकगीत आदि प्रकाशित हुए हैं ।

ब्रजभाषा से अधिक प्रभावित होने पर भी उसमें ऐ, औ के स्थान पर ऐ, ओ का प्रयोग अधिक मिलता है । संयुक्त स्वर ऐ, औ का कभी अइ, अउ उच्चारण भी होता है । इसमें कुछ परसर्ग अवधी के आ गये हैं । भविष्यकाल के रूप भी अवधी से प्रभावित हैं । पूर्व में अवधी का ज्यादा प्रभाव है ।

(१३) मारवाड़ी :

राजस्थान के पुराने मारवाड़ की भाषा मारवाड़ी है । जोधपुर इसका केन्द्र है, किन्तु अजमेर, किशनगढ़, मेवाड़, सिरोही, पालनपुर, जैसलमेर, अमरकोट, बीकानेर आदि जिलों में भी यह बोली जाती है । इस बोली के बोलने वाले लगभग ६८ लाख हैं । इसकी छोटी-छोटी उपबोलियाँ बहुत हैं, जिनमें मेवाड़ी, शेखावटी, बीकानेरी, बागड़ी आदि

उल्लेखनीय हैं। मारवाड़ी का साहित्य काफी मात्रा में गद्य-पद्य में उप-लब्ध है।

मारवाड़ी की ध्वनि-सम्बन्धी एक विशेषता यह है कि इसमें दो क्लिक ध्वनियाँ ध् और स् हैं। स का उच्चारण श जैसा होता है। सम्बन्ध-कारक में का, के, की के स्थान पर नो, ना, नी होता है। सहायक क्रिया ह्वाँ, ह्वती, आदि होती हैं।

(१४) मालवी :

प्राचीन जनपद मालव की भाषा मालवी है। यह उज्जैन के आस-पास का क्षेत्र है। इस बोली के अन्तर्गत रतलाम, इन्दौर, भोपाल, होशंगाबाद, बेतुल, बूना, नीमच, ग्वालियर, धालावार आदि जिले हैं। उज्जैन, इन्दौर और देवास में शुद्ध मालवी बोली जाती है। उसके बोलने वालों की संख्या लगभग ५४ लाख है।

मालवी वस्तुतः मारवाड़ी और बुन्देली के बीच की बोली है। इसमें 'ण' का उच्चारण नहीं होता। संयुक्त स्वर 'ऐ' और 'औ' की जगह 'ए' और 'ओ' का प्रयोग होता है। सम्बन्धकारक में साहित्यिक हिन्दी के साथ रो, रा, री का भी प्रयोग होता है। कहीं-कहीं थाको; थाका; थाकी भी प्रयुक्त होता है। संज्ञा बहुवचन में हिन्दी 'लोग' की तरह होर; होरो का प्रयोग होता है। पूर्वकालिक प्रत्यय 'ने' का प्रयोग विशेष है।

(१५) जयपुरी :

इस बोली का दूसरा नाम ढूंढाड़ी है। इसका नाम ढूंढ (ऊँची जगह) के नाम पर पड़ा है। जयपुर के पहले इस प्रांत का नाम ढूंढाण था। इसका मुख्य क्षेत्र जयपुर तथा बूंदी और कोटा के कुछ भाग हैं। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ३५ लाख है।

मारवाड़ी और ढूंढाड़ी में बहुत कम अन्तर है। ध्वनियों में पूरी समानता है। 'मैं' सर्वनाम के साथ 'मनै' और 'मूनै' भी प्रयुक्त होता

है। क्रिया के सामान्य रूप लेवो; देबो जैसे होते हैं। भूतकाल दीयो, लीयो, के अलावा दीन्, लीन् भी होते हैं।

(१६) मेवाती :

इस बोली का नाम मेओ जाती के लोगों पर पड़ा है। इसका क्षेत्र अल्वर, भरतपुर के उत्तर और गुड़गाँव के दक्षिण-पूर्व तक है। इसकी एक उपबोली अहीरवाटी है जिस पर हरियानी का बहुत अधिक प्रभाव है। अल्वर इसका प्रमुख केन्द्र है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग १७ लाख हैं।

इसके सभी सर्वनाम हरियानी बोली के समान हैं। इसको, उसको रूपों के साथ; अँको, वैको भी मिलते हैं। क्रिया-रूपों पर राजस्थानी का अधिक प्रभाव है।

कुमायूँनी :

पहाड़ी बोलियों में कुमायूँनी का ही थोड़ा-बहुत साहित्य मिलता है। इस बोली का क्षेत्र नैनीताल, अल्मोड़ा, और पिथौरागढ़ आदि जिले हैं। इसकी मूल बोली खस थी जिस पर राजस्थानी और खड़ीबोली का प्रभाव पड़ा है। इसके अलावा दरद तथा तिब्बती चीनी-परिवार की भाषाओं का भी कुछ प्रभाव है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ६ लाख हैं। आजकल के साहित्यकारों में गुमानी पंत और कृष्ण पाण्डेय प्रसिद्ध हैं।

इसमें ए, ओ, के स्थान पर या, वा, ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं; जैसे, च्याला (चेला); व्वाजा (बोझा)। अधिकतर शब्द ओकारांत होते हैं। सम्बन्धकारक में 'का', 'की', के' के साथ 'क' का भी प्रयोग होता है। 'ने' के स्थान पर 'ले' और 'को' के स्थान पर 'कणि' का प्रयोग होता है। सहायक किया छः (है), छियो (था) होती है।

(१७) गढ़वाली :

पहाड़ी भाग का पश्चिमी हिस्सा जिसे केदार खण्ड कहते हैं, इस बोली का क्षेत्र है। इस भाग को देवभूमि भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत गढ़वाल, टेहरी, और चमोली के जिले तथा उत्तर काशी का दक्षिणी भाग आता है। टेहरी गढ़वाल की बोली आदर्श गढ़वाली मानी जाती है। इस बोली पर शक, किरात, नागा और खस जातियों का प्रभाव है। गढ़वाली बोलने वाले लगभग ६ लाख हैं। इसमें कोई पुराना साहित्य नहीं मिलता। कुछ लोकगीतों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। आजकल कुछ गद्य-पद्य लिखा जाता है।

गढ़वाली की 'च' वर्गीय ध्वनियाँ अधिक संघर्षी हैं। अनुनासिकीकरण की प्रवृत्ति बहुत अधिक पायी जाती है। सम्बन्धकारक में अन्य बोलियों की अपेक्षा ओ, ए, ई, नये कारक चिह्न पाये जाते हैं। कुछ रूप (वर्तमान कृदन्त) पंजाबी के भी मिलते हैं।

: ९ :

देवनागरी लिपि

भाषा ध्वनि-समूह की अभिव्यक्ति है और अभिव्यक्ति होने के पश्चात् ध्वनियाँ वायुमण्डल में विलीन हो जाती हैं। इस तरह भाषा का उपयोग केवल तात्कालिक रह जाता है। भाषा को स्थायित्व प्रदान करने के लिए लिपि का निर्माण हुआ है। भाषा तो मनुष्य को बहुत पहले प्राप्त हो गयी थी, किन्तु लिपि बहुत बाद में विकसित हुई। लिपि का प्रारम्भ तब हुआ जब मनुष्य को यह अनुभव होने लगा कि उसके भाव या विचार सुरक्षित रह सकें। लिपि के आविर्भाव से भाषा में स्थायित्व तो आया ही; साथ ही वह देश-काल के बन्धन से मुक्त हो गयी। यह कह सकना बहुत कठिन है कि लिपि का प्रारम्भ कब हुआ ? किन्तु इतना निश्चित है कि लिपि, भाषा के बहुत बाद में बनी है। लिपि को प्रारम्भ हुए पाँच-छः हजार वर्ष से अधिक नहीं हुए होंगे।

लिपि का प्रारम्भ :

जसा कि संकेत किया जा चुका है कि लिपि भाषा को सुरक्षित रखने और उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए बनी। लिपि के निर्माण और विकास की तीन अवस्थाएँ हैं—पहले चित्र-लिपि बनी; बाद में भाव-लिपि और उसके बाद ध्वनि-लिपि। आरम्भ में मनुष्य चित्र बनाकर अपनी बात कहता था; जैसे जङ्गल में घूमते हुए आदमी ने शेर देखा और परिवार के अन्य लोगों से बताने के लिए उसने शेर का चित्र बनाया। इसी तरह विभिन्न पशु-पक्षियों का चित्र बनाकर वह अपनी बात कहता रहा। चित्रों

के माध्यम से बात कहने में कई प्रकार की कठिनाई थी। एक तो यह कि चित्र केवल स्थूल वस्तुओं के ही वन सकते थे। नदी, पहाड़, पक्षी; जानवर आदि के तो चित्र बनाये जा सकते थे, किन्तु अच्छाई, सुन्दरता, दया, वीरता के चित्र नहीं वन पाते थे। दूसरी बात यह थी कि चित्र वहुत स्थान घेरते थे। कितना भी छोटा चित्र क्यों न बनाया जाय फिर भी उसमें लिपि से ज्यादा जगह लगती थी। तीसरी बात यह कि चित्रों में शीघ्रता नहीं हो पाती थी। चित्र वनाने में काफी समय लगता था। अतः धीरे-धीरे चित्र-लिपि का स्थान भाव-लिपि ने ले लिया।

भाव-लिपि में वस्तुओं के यथार्थ चित्र न खींचकर उनके भाव को प्रगट करने के लिए कुछ सीधी-टेढ़ी रेखाएँ खींचा जाती थीं; जैसे नदी का भाव प्रगट करने के लिए दो पड़ी रेखाएँ खींच दी गयीं, जानवर का भाव प्रगट करने के लिए चार खड़ी रेखाओं पर एक गोलाकार बना दिया गया। वस्तुतः इस भाव-लिपि से ही प्रतीकत्व प्रारम्भ होता है। भाव-लिपि, स्थूल वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करने लगी। इससे लाभ यह हुआ कि लिपि में लाघव आया। अब पूर्ण चित्र के स्थान पर एक संक्षिप्त-सा चित्र बनने लगा। कम से कम रेखाओं में अधिक से अधिक भावों को व्यक्त करने के आग्रह ने ही इस लिपि को जन्म दिया। धीरे-धीरे ये भाव-चित्र रूढ़ हो गये। चित्र-लिपि में एक विशेषता यह थी कि वह सब के लिए बोधगम्य थी। कुत्ते का चित्र देखकर दुनिया का कोई भी व्यक्ति उसे कुत्ता समझ सकता था। यदि आज देवनागरी में कुत्ता लिखा जाय तो इसे वही समझ सकता है जो देवनागरी और हिन्दी जानता हो। भाव-लिपि में यह सर्वबोध्यता कम हो गयी, क्योंकि उसके लिए रूढ़ियों का प्रचलन हो गया था। भाव-लिपि; चित्र-लिपि से संक्षिप्त और सरल जरूर हो गयी, किन्तु आदमी इससे भी श्रेष्ठ लिपि की खोज में लगा रहा और एक दिन उससे ध्वनि-लिपि को खोज निकाला।

ध्वनि-लिपि सचमुच मनुष्य की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसमें प्रत्येक ध्वनि के लिए संकेत-चिह्न बनाये गये। यह कह सकना बहुत

कठिन है कि ध्वनि-लिपि का प्रारम्भ पहले पहल कहाँ हुआ ? पाश्चात्य विद्वान्, हर चीज को पश्चिम की मानने का आग्रह करते हैं और ध्वनि-लिपि के लिए भी उनका यही आग्रह है । उनके मतानुसार ध्वनि-लिपि का प्रारम्भ पहले योरप में हुआ और वहीं से वह भारत में आयी । भारतीय विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं । हमारे यहाँ प्रारम्भ से ही दो प्रधान लिपियाँ—ब्राह्मी और खरोष्ठी मिलती हैं । अतः भारतीय ध्वनि-लिपियाँ भारत में ही उत्पन्न हुई हैं । नीचे संक्षेप में उनकी उत्पत्ति और विकास प्रस्तुत किया जा रहा है ।

खरोष्ठी :

खरोष्ठी लिपि का प्रचार पश्चिमोत्तर प्रदेश में था । अशोक के कुछ शिलालेख इस लिपि में मिले हैं । खरोष्ठी आधुनिक फारसी की तरह बायें से दायें लिखी जाती थी । यह आर्य लिपि नहीं है । इसकी उत्पत्ति विदेशी सेमेटिक लिपि से है । इसके नाम के सम्बन्ध में कई मत हैं । कुछ लोग कहते हैं कि खरोष्ठ नामक व्यक्ति ने इसका निर्माण किया था, इसलिए इसका नाम खरोष्ठी पड़ा । कुछ लोगों के मतानुसार इसके अक्षर गधे के ओठ के समान होते हैं, इसलिए इसे खरोष्ठी कहते हैं । अन्य लोग इसे इब्रानी भाषा के 'खरोशेथ' (लिखावट) का परिवर्तित रूप मानते हैं । खरोष्ठी में कुल ३७ वर्ण होते हैं । इसमें स्वरों तथा मात्राओं के ह्रस्व-दीर्घ में अन्तर नहीं है । यह एक विदेशी लिपि थी, जिसका प्रचलन कुछ दिनों तक भारत में रहा ।

ब्राह्मी :

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार भारत में लेखन-कला का प्रारम्भ चौथी शताब्दी के बाद प्रारम्भ हुआ, किन्तु अब यह पूर्ण रूप से प्रमाणित हो चुका है कि भारत में लेखन-कला का प्रारम्भ पाँचवीं शताब्दी ईसा-पूर्व के पहले ही हो चुका था । प्राचीन वैदिक और बौद्ध साहित्य में इसका स्पष्ट उल्लेख है । ब्राह्मी भारत की सबसे पुरानी लिपि है, जिसका

प्रचार भारत में ईसा की तीसरी शताब्दी तक रहा। इसकी उत्पत्ति सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व हुई थी। पश्चिमी विद्वानों के मतानुसार ब्राह्मी किसी विदेशी लिपि से विकसित हुई है। कुछ लोग इसका उद्‌गम चीनी से और कुछ यूनानी लिपि से मानते हैं। वस्तुतः ब्राह्मी किसी लिपि से उद्‌भूत न होकर भारत की अपनी लिपि है। इसका सम्बन्ध किसी विदेशी लिपि से नहीं जोड़ा जा सकता। प्रसिद्ध विद्वान गौरीशंकर हीराचन्द ओझा इसे भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार कहते हैं।

ब्राह्मी नाम के सम्बन्ध में भी मतभेद है। ब्रह्मा द्वारा निर्मित होने के कारण इसे ब्राह्मी कहा जाता है, ऐसी कुछ लोगों की धारणा है। कुछ लोग कहते हैं कि इसका निर्माण ब्राह्मणों द्वारा हुआ, इसलिए इसका नाम ब्राह्मी पड़ा। अन्य लोगों का यह कथन है कि ब्रह्मा अर्थात् वेद को सुरक्षित रखने के लिए इस लिपि का निर्माण किया गया, इसलिए इसे ब्राह्मी कहा गया।

ब्राह्मी लिपि के प्राचीनतम नमूने पाँचवीं सदी ई० पू० के मिले हैं। पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड़कर समस्त भारत में इसका प्रयोग होता था। एक प्रकार से ब्राह्मी, प्राचीन काल में भारत की राष्ट्रीय लिपि थी। आगे चलकर इसके दो रूप हो गए—दक्षिणी और उत्तरी। इन दोनों रूपों को ब्राह्मी की दक्षिणी शैली और उत्तरी शैली कहा गया। उत्तरी रूप, प्राचीन रूप के निकट था, किन्तु दक्षिणी रूप में धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगे। दक्षिणी शैली से पश्चिमी; मध्यप्रदेशी, ग्रन्थ-लिपि, तेलगू, तमिल, कलिंग आदि दक्षिणी भाग की लिपियाँ विकसित हुईं और उत्तरी शैली से गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, प्राचीन नागरी, शारदा, बँगला आदि लिपियाँ विकसित हुईं।

देवनागरी :

ब्राह्मी लिपि से चौथी शताब्दी में गुप्तलिपि और तत्पश्चात् कुटिल

लिपि का विकास हुआ। नौवीं शताब्दी के पश्चात् इसी कुटिल लिपि से प्राचीन नागरी लिपि विकसित हुई। दसवीं शताब्दी से इसके नमूने मिलने लगते हैं। दक्षिण में इसी का नाम नन्दि नागरी पड़ा। इसका प्रयोग सोलहवीं शताब्दी तक मिलता है। प्राचीन नागरी से ही आधुनिक काल की नागरी या देवनागरी, गुजराती, महाजनी आदि लिपियों का विकास हुआ। अतः देवनागरी ब्राह्मी लिपि का ही परिवर्तित रूप है।

देवनागरी लिपि के नामकरण के सम्बन्ध में भी कुछ जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। देवनागरी या नागरी नाम पड़ने के निम्नलिखित कारण बताये जाते हैं—

१—मुख्य रूप से नगरों में प्रचलित होने के कारण इसे नागरी कहा गया।

२—देवभाषा संस्कृत के लिए इसका प्रयोग किया गया, इसलिए देवनागरी नाम पड़ा।

३—गुजरात के नागर ब्राह्मणों द्वारा अपनाये जाने के कारण नागरी नाम पड़ा।

४—देवनगर अर्थात् काशी में प्रचार होने के कारण यह देवनागरी कहलायी।

ये सारे मत अनुमान पर आधारित हैं। अधिकतर विद्वान पहले मत के पक्ष में हैं और नागरी नाम पड़ने का यही कारण ठीक लगता है। देवभाषा के लिए प्रयत्न होने के कारण बाद में देवनागरी नाम पड़ा।

देवनागरी लिपि का सर्वप्रथम प्रयोग गुजरात के राजा जयभट्ट के एक शिला-लेख में पाया जाता है। जयभट्ट आठवीं शताब्दी के थे। तदनन्तर उसी काल के राष्ट्रकूट राजाओं और नौवीं शताब्दी के ध्रुवराज ने अपनी राजाज्ञाओं को देवनागरी में प्रचलित किया। विजयनगर राज्य में और कोंकण में भी देवनागरी का व्यवहार होता रहा। दक्षिण भारत में देवनागरी के प्रथम प्रचार के कारण लोगों का अनुमान है कि इसका

विकास दक्षिण में हुआ और बाद में उत्तरी भारत में प्रचार हुआ। ये उदाहरण प्राचीन देवनागरी के हैं। १०वीं शताब्दी के बाद भी देवनागरी का क्षेत्र बहुत व्यापक रहा है। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, और नैपाल में प्रायः शिलालेख, ताम्रपत्र और हस्तलेख देवनागरी में प्राप्त हुए हैं। आज यह भारत की प्रधान लिपि है। हिन्दी, मराठी, नैपाली, संस्कृत और सभी हिन्दी-बोलियाँ इसी लिपि में लिखी जाती हैं। गुजरात में १७वीं शताब्दी तक देवनागरी का ही प्रयोग होता रहा, बाद में देवनागरी से शिरोरेखा हटाकर गुजराती ने अपना स्वतन्त्र विकास किया। देवनागरी का वर्तमान रूप १६वीं शताब्दी में प्राप्त हुआ, किन्तु इसकी वर्णमाला ११वीं शताब्दी में ही स्थिर हो गयी थी। आजकल शीघ्र-लेखन के लिए देवनागरी की शिरोरेखा हटाकर लिखने की प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है।

देवनागरी को राष्ट्रलिपि का पद प्राप्त हुआ है और भारत की सभी भाषाओं को इसमें लिखने का प्रयत्न हो रहा है। वस्तुतः देवनागरी एक बहुत ही वैज्ञानिक लिपि है और भारतीय साहित्य का बहुत बड़ा अंश इसमें लिखा गया है। संस्कृत की लिपि होने के कारण उसका प्रचार सारे भारतवर्ष में है, अतः यह सब के लिए सुलभ और सरल है। देवनागरी लिपि की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(१) यह लिपि वर्णात्मक है, और प्रत्येक व्यंजन के साथ स्वर जुड़ा हुआ रहता है। इसलिए इसका उच्चारण आसानी से होता है।

(२) देवनागरी में स्वरों और व्यंजनों का क्रम बहुत ही व्यवस्थित है। एक वर्ग की ध्वनियाँ प्रायः एक क्रम से रखी गयी हैं। स्पर्श, अल्पप्राण, महाप्राण, घोष, अघोष आदि का निर्देश क्रम-व्यवस्था में ही है।

(३) इस लिपि के वर्ण उच्चारण के अनुरूप हैं, जो लिखा जाता है वही पढ़ा जाता है। रोमन या अरबी लिपि की तरह लेखन और उच्चारण में पार्थक्य नहीं है।

(४) व्यंजन-संयोगों को लिखने के लिए अत्यन्त उत्तम पद्धति है। बड़ी आसानी से संयुक्त व्यंजन की प्रथम और द्वितीय ध्वनियाँ समझ में आ जाती हैं।

(५) प्रत्येक ध्वनि के लिए इसमें अलग-अलग चिह्न हैं। एक ध्वनि के लिए एक ही चिह्न है, रोमन की तरह कई नहीं।

(६) भाषा में देवनागरी लिपि का प्रत्येक वर्ण उच्चारित होता है। रोमन की तरह कुछ ध्वनियाँ अनुच्चरित नहीं रहतीं।

देवनागरी लिपि में कुछ कमियाँ भी हैं, जिनका निर्देश करना आवश्यक है। ये कमियाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) इसमें ह्रस्व ए और ओ के लिए चिह्न नहीं हैं; जबकि हिन्दी की कई बोलियों में ये ध्वनियाँ हैं।

(२) देवनागरी अक्षरात्मक होने के कारण ध्वनि-शास्त्र के अध्ययन के लिए उपयोगी नहीं है।

(३) संयुक्त व्यंजनों को लिखने के लिए कोई एक नियम नहीं है।

(४) स्वर के लिए मात्राएँ ऊपर-नीचे, आगे-पीछे लगायी जाती हैं। ह्रस्व इ की मात्रा बहुत ही अवैज्ञानिक है।

इन कमियों को यदि देवनागरी लिपि से निकाल दिया जाय, तो इसकी वैज्ञानिकता और भी बढ़ जायेगी। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर देवनागरी लिपि में कई प्रकार के सुधार किये गये हैं। टाइपराइटर और छापाखाना को ध्यान में रखकर कुछ नियम बनाये गए हैं, जिनके अनुसार देवनागरी लिपि अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक हो गयी है। संयुक्त अक्षरों को लिखने के लिए पाई वाले व्यंजनों को छोड़कर संयोग में हलन्त चिह्न लगाना स्वीकार किया गया है। अनुस्वार और पंचमाक्षर के लिए शून्य (ं) का प्रयोग मान्य किया गया है। दूसरी भाषाओं की ध्वनियों के लेखन के लिए कुछ नये संकेत तथा देवनागरी अक्षरों के नीचे-ऊपर जोड़ने के लिए कुछ चिह्न स्वीकार किए गए हैं।

इस प्रकार नये सुधारों को कार्यान्वित करके देवनागरी लिपि को भारतीय भाषाओं के लिए उपयोगी बनाया जा सकता है ।

देवनागरी के कुछ दोषों का निर्देश करके कुछ विद्वानों ने रोमन लिपि को अपनाने की सलाह दी है, किन्तु रोमन लिपि में कई प्रकार की कमियाँ हैं, और वह भारतीय भाषाओं के लिए बहुत उपयुक्त नहीं हो सकती । इसके अलावा शताब्दियों से देवनागरी में लिखा जानेवाले संस्कृत, हिन्दी, मराठी और नैपाली के विशाल साहित्य को रोमन में ले आना सम्भव नहीं होगा । देवनागरी लिपि भारत की संस्कृति के साथ जुड़ी हुई है और ऐसी सुन्दर, पूर्ण वैज्ञानिक तथा स्वदेशी लिपि को छोड़कर रोमन लिपि को अपनाने की कल्पना हास्यास्पद जैसी है । अतः यही उचित होगा कि देवनागरी लिपि में ही उचित परिवर्तन, परिवर्धन करके इसे भारतीय भाषाओं के लिए उपयुक्त बनाया जाय ।

: १० :

ब्राह्मी लिपि से विकसित होने वाली लिपियों का परिचय

विभिन्न प्राचीन लिपियाँ :

प्राचीन काल में भारत में तीन प्रकार की लिपियाँ प्रचलित थीं—सिंधुघाटी की लिपियाँ, ब्राह्मी लिपि और खरोष्ठी लिपि। ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इस सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत बड़ा मत-भेद है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति ५०० ई० पू० से पहले नहीं मानते हैं, क्योंकि इस लिपि के प्राचीनतम लेख ५०० ई० पू० से पहले के नहीं प्राप्त होते हैं। ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लगभग १५-१६ मत प्रचलित हैं, जिनमें अधिकतर इसी बात पर बल दिया गया है कि ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति भारत में नहीं हुई, बल्कि सेमेटिक लिपि से इसका विकास हुआ है। यह वास्तविक तथ्य नहीं जान पड़ता। ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आलोचना-प्रत्यालोचना करना प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है; किन्तु इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'ब्राह्मी' की उत्पत्ति भारत में ही हुई है। सम्भव है, इस लिपि का 'ब्राह्मी' नाम कालांतर में पड़ा हो। इस सम्बन्ध में श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखते हैं—'ब्राह्मी लिपि' के न तो अक्षर फिनीशियन या किसी अन्य लिपि से निकले हैं और न उसकी बायीं ओर से दाहिनी ओर लिखने की प्रणाली किसी और लिपि से बदल कर बनायी गयी है। यह भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इसकी प्राचीनता और सर्वाङ्ग-सुन्दरता से चाहे

इसका कर्त्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इसका नाम ब्राह्मी पड़ा, चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो । एडवर्ड थामस, प्रो० डासन और जनरल कनिंगहम के मत भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण हैं । बूलर ब्राह्मी लिपि के व्याकरण-सम्बन्धी तथा ध्वन्यात्मक महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसकी उत्पत्ति भारतीय बतलाते हैं । डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार "इसका निर्माण पवित्र वैदिक साहित्य को लिपि-बद्ध करने के लिए ही हुआ था । इसका प्राचीनतम रूप सिन्धु-घाटी लिपि में उपलब्ध है और वस्तुतः यही लिपि चित्र, भाव तथा ध्वन्यात्मक लिपि की विभिन्न अवस्थाओं से होती हुई ब्राह्मी लिपि में परिणत हुई थी ।"

ब्राह्मी के नामों का विवेचन :

जैनधर्म के प्रसिद्ध ग्रंथ 'पन्नवणा सूत्र' और 'समवायांग सूत्र' में अठारह लिपियों के नाम मिलते हैं, जिनमें सर्वप्रथम नाम 'बंमी' (ब्राह्मी) लिपि को नमस्कार करके सूत्र का प्रारम्भ किया गया है । बौद्धधर्म के 'ललित विस्तर' नामक संस्कृत-ग्रंथ में चौंसठ लिपियों के नाम दिए गए हैं, जिनमें भी सर्वप्रथम 'ब्राह्मी' का नाम है और दूसरा खरोष्ठी का । 'ललित विस्तर' ग्रंथ का निर्माण किस शताब्दी में हुआ—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु इसका चीनी भाषांतर ई० स० ३०८ में हुआ था । ई० स० ६६८ में रचित बौद्ध विश्वकोष 'फायुआन चुलिन' में भिन्न-भिन्न लिपियों के सम्बन्ध में लिखते हुए 'ब्राह्मी' की उत्पत्ति ब्रह्मा द्वारा बतायी गयी है । आधुनिक वैज्ञानिक युग में यदि 'ब्राह्मी लिपि' के देवलोक से प्राप्त होने की बात को तर्कसम्मत न माना जाय, तब भी इतना तो स्पष्ट ही है कि जो लिपि बायीं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी उसकी पुरातन संज्ञा ब्राह्मी थी और जो दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी उसकी खरोष्ठी । ब्राह्मी भारत की

सार्वदेशिक और स्वतन्त्र लिपि थी, इसलिए जैनों और बौद्धों ने उसी में अपने ग्रंथ लिखे और लिपियों की सूची में उसे प्रथम स्थान दिया।

ब्राह्मी के प्राचीन स्रोत :

आधुनिकतम शोधों के अनुसार ब्राह्मी लिपि के प्राचीनतम उदाहरण ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के प्राप्त हुए हैं। 'पिप्रावा' के स्तूप और 'बर्ली' गाँव से जो लेख मिले हैं वे 'अशोक' के शिला-लेखों से अधिक भिन्न नहीं हैं। पहले अशोक के शिला-लेख ही 'ब्राह्मी' के प्राचीनतम उदाहरण माने जाते थे, किन्तु उपर्युक्त दोंनों लेखों के प्राप्त होने से ई० पू० ५०० तक के उदाहरण मिलते हैं। इसके पूर्व के उदाहरण नहीं मिले हैं, किन्तु उसके पूर्व का साहित्य ब्राह्मी लिपि में ही लिखा जाता रहा होगा, भले ही उसका रूप 'ब्राह्मी' से कुछ भिन्न रहा हो। डा० चटर्जी इस सम्बन्ध में लिखते हैं, "दसवीं शताब्दी ईसा-पूर्व की आद्य भारतीय आर्य लिपि, जो एक प्रकार की प्राथमिक 'ब्राह्मी' ही थी—तत्कालीन बोल-चाल की वैदिक ध्वनियों को व्यक्त करने का स्थूल प्रयास मात्र प्रतीत होती है।" अतः मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि 'ब्राह्मी लिपि' का इतिहास लगभग तीन हजार वर्ष प्राचीन प्रामाणिक रूप में प्राप्त है। आर्यों के वेद ब्राह्मी लिपि में ही लिखे गए थे; पर उसका स्वरूप क्या था यह कहा नहीं जा सकता। डा० चटर्जी भी इसी मत के पोषक हैं—"ब्राह्मी लिपि जिसमें आर्य भाषा सर्वप्रथम लिखी गयी थी, किस प्रकार की थी, हम कह नहीं सकते।"

लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व सम्पूर्ण भारत में या तो 'ब्राह्मी लिपि' का प्रचार था या उसके किसी पूर्ववर्ती रूप का, जिसका आज हमें कोई ज्ञान नहीं है। यह भी सम्भव है कि भारत के भिन्न-भिन्न भागों में 'ब्राह्मी' से ही विकसित होने वाली भिन्न-भिन्न लिपियों का प्रचार रहा हो। प्रियदर्शी अशोक के पूर्व रचित जैन ग्रन्थ 'समवायांग' और पश्चात् रचित 'ललित विस्तर' में ब्राह्मी के अतिरिक्त भी कई लिपियों का नाम दिया

हुआ है, परन्तु उनका कोई लेख अभी तक नहीं मिला है, सम्भव है वे लिपियाँ काल-कवलित हो गयी हों और उनका स्थान अशोक के समय तक तत्कालीन ब्राह्मी ने ले लिया हो ।

ई० पू० की तीन-चार शताब्दियाँ पूर्व से तीन-चार शताब्दी पश्चात् तक प्राप्त होने वाले लेखों में अधिक अन्तर नहीं है । परीक्षणों के पश्चात् विद्वान् लोग इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि ई० पू० ५०० के आस-पास से लेकर ई० स० ३५० तक भारतवर्ष की सभी लिपियों का नाम 'ब्राह्मी' था । कालांतर में 'ब्राह्मी लिपि' की दो शैलियाँ हो गयीं । एक का प्रचार उत्तरी भारत में हुआ और दूसरी का दक्षिणी भारत में । यद्यपि विन्ध्य पर्वत इसकी सीमा-रेखा मानी गयी है, तथापि उत्तरी शैली के कुछ लेख दक्षिण में और दक्षिणी शैली के कुछ लेख उत्तर में प्राप्त हुए हैं ।

उत्तर शैली से विकसित होने वाली लिपियाँ :

(१) गुप्तलिपि—मौर्य-युग की 'ब्राह्मी' से गुप्तयुग की 'ब्राह्मी' में पर्याप्त अन्तर है । मौर्य-युग एवं बाद के शुंग-युग की 'ब्राह्मी' से चौथी शताब्दी में 'गुप्त ब्राह्मी' का विकास हुआ । समस्त उत्तरी भारत में इसका प्रचार पाँचवीं शताब्दी तक रहा । गुप्तवंशी राजाओं के लेखों और दान-पत्रों में इसके नमूने प्राप्त हुए हैं । भारतीय धर्म-प्रचार के द्वारा यह 'गुप्त ब्राह्मी' मध्य एशिया में गई और वहाँ इसका इतना प्रभाव पड़ा कि वहाँ की भाषाएँ भी इसी लिपि में लिखी गयीं । पुरानी खोतानी, ईरानी और तोखारी आदि भाषाओं ने इसी लिपि को किंचित् परिवर्तन के साथ अपनाया । आगे चलकर छठी शताब्दी में इसी लिपि की पश्चिमी शाखा की एक उपशाखा से 'सिद्धमात्रिका' लिपि का विकास हुआ । बूलर ने इसका नाम 'न्यून कोणीय लिपि' रक्खा है, क्योंकि इसके अक्षरों के आकार न्यून कोण की तरह हैं । बोधगया में प्राप्त ई० सन् ५८८-८९ का प्रसिद्ध लेख इसी 'सिद्धमात्रिका लिपि' में है ।

(२) कुटिल लिपि—'गुप्त लिपि' से विकसित होने वाली यह

'कुटिल लिपि' ई० सन् की छठी शताब्दी से नौवीं शताब्दी तक समस्त उत्तरी भारत में प्रचलित थी। इसके वर्णों और मात्राओं के टेढ़े-मेढ़े होने के कारण ही इसे 'कुटिल' संज्ञा प्राप्त हुई। इसका एक प्राचीन नाम 'कुटिलाक्षर' भी मिलता है। इस लिपि के अक्षरों के शिरो-भाग पर प्रायः त्रिभुज जैसा होता था। इस लिपि के नमूने यशोवर्मन, नैपाल के अशुवर्मन के लेखों तथा मौखरियों के लेखों और मुद्राओं आदि में प्राप्त हुए हैं।

(३) नागरी लिपि—नागरी लिपि का प्रचलन ई० स० की दसवीं शताब्दी से लेकर आधुनिक काल तक उत्तर भारत, मध्य भारत, पंजाब, बिहार, महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रदेशों में है। वैसे इस लिपि का प्रचार सम्पूर्ण भारत में पहले से भी था और आज भी है, क्योंकि संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थ, जैन और बौद्ध धर्म के ग्रन्थ इसी लिपि में लिखे जाते थे। इसका विकास 'कुटिल लिपि' से ही हुआ है। इसका सबसे प्राचीन रूप कन्नौज के प्रतिहार वंशी राजा महेन्द्रपाल प्रथम के दिघ्वा दबोली से प्राप्त वि० सं० ९५५ के दानपत्र में मिलता है। इसके बाद के नमूने सम्पूर्ण भारत में पाये जाते हैं। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की नागरी आधुनिक नागरी से कुछ भिन्न थी। आधुनिक रूप इसे बारहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ। श्री गौ० ही० ओझा नागरी का प्रारम्भ आठवीं शताब्दी से मानते हैं। नागरी संज्ञा के सम्बन्ध में कई भिन्न मत हैं। कुछ विद्वान् इसका सम्बन्ध गुजरात के नागर ब्राह्मणों से मानते हैं, तो कुछ नगर से। देव-भाषा संस्कृत इस लिपि में लिखी जाती थी, इसलिए इसका 'देव-नागरी' नाम पड़ा। यह एक पूर्ण वैज्ञानिक लिपि है और वर्तमान काल में संस्कृत, हिन्दी और मराठी भाषा के लिए प्रयुक्त होती है।

चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में नागरी लिपि का विकास दो स्रोतों में विभाजित हो गया था : एक पूर्वी शाखा और दूसरी मध्य देशीय शाखा। संक्षेप में दोनों शाखाओं की लिपियों का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

(अ) पूर्वी शाखा

(क) विहारी लिपि—यह लिपि बिहारी और उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में प्रचलित है। यद्यपि आजकल विद्यालयों और मुद्रण के लिए देवनागरी का व्यवहार होता है, परन्तु कहीं-कहीं इन लिपियों का रूप हस्तलेखों में मिल जाता है। लगभग सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व इन लिपियों का अधिक प्रचार था। कायस्थ जाति के लोग ही अधिकतर कार्यालयों और कचहरियों में लिखने-पढ़ने का काम करते थे, इसलिए इसका नाम कैथी पड़ गया। इसके तीन स्थानीय रूप हैं—

(१) तिरहुती कैथी लिपि—इसका प्रयोग तिरहुत और आस-पास के कायस्थ लोग करते हैं। इसके अक्षर बहुत ही सुन्दर होवे हैं।

(२) मगही कैथी लिपि—पटना और गया जिले में इस लिपि का प्रचार है। यह विहार की एक बोली मगहो को लिखने के लिए प्रयुक्त होती है। कुछ समय पूर्व मुद्रण के लिए भी इसका प्रयोग होता था। अब इसका स्थान देवनागरी ने ले लिया है।

(३) भोजपुरी कैथी लिपि—भोजपुरी पूर्वी उत्तर प्रदेश और विहार की एक प्रमुख बोली है। भोजपुरी कैथी लिपि का प्रयोग इसी को लिखने के लिए होता है। यह लिपि देवनागरी से बहुत अधिक मिलती-जुलती है। इसके क्षेत्र में भी अब मुद्रण के लिए देवनागरी का प्रयोग होता है।

(ख) मैथिली लिपि—उत्तर विहार में मैथिली बोली का प्रचार है, जिसके लिखने में मैथिली लिपि का प्रयोग होता है। इसकी दूसरी संज्ञा 'तिरहुती' लिपि भी है। इस लिपि का प्रयोग केवल मैथिल ब्राह्मण ही करते हैं। यह बँगला लिपि के अधिक समीप है।

(आ) मध्य देशी शाखा

स्थान की दृष्टि से विचार किया जाय तो देवनागरी मध्य देश की ही लिपि है, किन्तु इस क्षेत्र में देवनागरी के अतिरिक्त जो अन्य

लिपियाँ प्रचलित हैं उनका परिचय यहाँ दिया जा रहा है। वे निम्न-लिखित हैं—

(च) गुजराती लिपि—यह सम्पूर्ण गुजरात के कार्यालयों और मुद्रण के लिए प्रयुक्त होती है। वास्तव में यह पूर्व देवनागरी का ही विकसित रूप है। गुजरात के व्यापारी (वनिया) लोग एक दूसरी लिपि का प्रयोग करते हैं जिसे वोड़िया या वोड़ी कहते हैं। यह एक प्रकार की विशिष्ट लिपि है, जिसका पढ़ना वणिकेतर लोगों के लिए वहुत कठिन है।

(छ) महाजनी लिपि—भारत में जहाँ कहीं भी मारवाड़ी हैं वे अपना वही-खाता इसी 'महाजनी लिपि' में लिखते हैं। राजस्थान के व्यवसायी लोगों में इसका सर्वाधिक प्रचार है। यह लिपि शीघ्र लेखन के लिए प्रयुक्त होती है, क्योंकि इसमें मध्य स्वर प्रायः छोड़ दिए जाते हैं। यह लिपि मुद्रण के लिए नहीं प्रयुक्त होती।

(ज) मालवी लिपि—यह लिपि महाजनी लिपि का ही एक भेद है जो मालवा की वोली मालवी के लिखने में प्रयुक्त होती है।

(झ) मोड़ी लिपि—मोड़ी लिपि का प्रचार महाराष्ट्र में कुछ दिन पूर्व पर्याप्त संख्या में था, किन्तु आज-कल इसका प्रचार कम हो गया है। कुछ पुरानी पीढ़ी के लोग ही पत्र आदि लिखने में अव इसका उप-योग करते हैं। त्वरा लेखन के लिए ही शायद इसका उपयोग होता है, क्योंकि विना लेखनी उठाये ही कभी-कभी एक पंक्ति लिख सकते हैं।

(४) शारदा लिपि—यह लिपि भी कुटिल लिपि से विकसित हुई है। इसका प्रचार पंजाब, सिंध और काश्मीर में दसवीं शताब्दी से अव तक है, किन्तु मध्य और आधुनिक काल के अधिक उदाहरण नहीं मिलते। चंवा राज्य के शिला-लेखों और दान-पत्रों में इसके नमूने पाये गए हैं। इसका सबसे प्राचीन लेख 'सराहा की प्रशस्ति' में प्राप्त हुआ, जो ई० स० की दसवीं शताब्दी के आस-पास का है। आगे चलकर इससे पंजाव, सिंध

और काश्मीर की अनेक लिपियों का विकास हुआ जिनका परिचय नीचे दिया जा रहा है :—

(ट) टक्करी लिपि—यह टक्क जाति की लिपि है। टक्क लोग किसी समय स्यालकोट के आस-पास रहते थे, उन्हीं से इस लिपि का प्रचार वहाँ हुआ। आजकल इसका प्रचलन वहाँ के निम्न श्रेणियों के व्यापारियों में है। इसका प्रचार कहीं-कहीं थोड़े से भिन्न रूप के साथ हिमालय के निचले प्रदेशों में भी है।

(ठ) चम्बा लिपि—इसका दूसरा नाम चमेआली भी है। चम्बा प्रदेश की चमेआली बोली के लिखने में यह व्यवहृत होती है।

(ड) मंडेआली लिपि—इस लिपि का प्रयोग मंडी और सुकेत के राज्य में होता है। यह देवनागरी के बहुत समीप है।

(ढ) जौनसारी लिपि—पश्चिमी पहाड़ी भाषा के अन्तर्गत जौन-सारी नाम की बोली के लिखने में इस लिपि का प्रयोग होता है। इसका प्रचलन उत्तर-भारत के पहाड़ी प्रदेश जौनसार बावर में है।

(ण) कइटबारी लिपि—यह काश्मीर के दक्षिण-पूर्व में कइटवार की घाटी में कइटवार बोली के लिए व्यवहृत होती है। डा० ग्रियर्सन ने इसे टक्करी और शारदा के बीच की कड़ी कहा है।

(त) कुल्लुई लिपि—कुल्लुई बोली पश्चिमी पहाड़ी के अन्तर्गत आती है जिसके लिखने में यह कुल्लुई लिपि प्रयुक्त होती है। इसका प्रचलन पंजाब की कुल्लू घाटी में है।

(थ) डोग्री लिपि—पंजाबी भाषा की एक बोली डोग्री के लिखने में इस लिपि का प्रयोग होता है। जम्मू राज्य के आस-पास इसका अधिक प्रचार है।

(द) सिरमौरी लिपि—पश्चिमी पहाड़ी भाषाओं की बोली सिर-मौरी के लिखने में इसका प्रयोग होता है। इसे कुछ लोग टक्करी की एक उपशाखा मानते हैं। यह जौनसारी लिपि से बहुत अधिक मिलती-जुलती है।

(ध) कोछी लिपि—यह लिपि भी टक्करी का एक भेद है। इसका प्रयोग पश्चिमी पहाड़ी भाषाओं की 'किउंठाली' की उपभाषा 'कोछी' के लिखने में होता है। शिमला के पश्चिमी प्रदेश में इसका अधिक प्रचलन है।

(न) लण्डा लिपि—लण्डा लिपि का प्रयोग सिंधी की बोलियों तथा लहंदा के लिखने में होता है। इसका प्रचलन पंजाब और सिंध में है। यद्यपि यह एक प्रकार से इस प्रदेश की राष्ट्रीय लिपि है, किन्तु व्यापारियों और दूकानदारों के द्वारा ही यह अधिक प्रयुक्त होती है। इसके स्वरों का प्रयोग बहुत ही अव्यवस्थित है। इसके निम्नलिखित स्थानीय भेद हैं—

(१) मुल्तानी लिपि—मुल्तानी लहंदा की सर्वप्रथम बोली है। इसी को लिखने के लिए मुल्तानी लिपि का प्रयोग होता है। मुल्तान इसका प्रमुख केन्द्र है।

(२) गुरुमुखी लिपि—आजकल पंजाबी लिखने में इस लिपि का प्रयोग होता है। यह लण्डा लिपि का ही एक रूप है, जिसे सिक्खों के दूसरे गुरु श्री आनन्द ने लण्डा लिपि में ही कुछ परिवर्तन करके निर्मित किया था। इसका प्रयोग करने वाले अधिकतर सिक्ख हैं। मुद्रण के लिए भी इसका प्रयोग होता है।

(३) सिंधी लिपि—इसका व्यवहार सिंधी की लण्डा बोली के लिखने के लिए होता था। सम्पूर्ण सिंध में हिन्दुओं द्वारा लिखने-पढ़ने में इसका प्रयोग होता रहा। पाठशालाओं की पुस्तकें भी इस लिपि में मुद्रित की गई थीं। पाकिस्तान के बन जाने के बाद अब यह केवल कुछ हिन्दुओं तक ही सीमित है।

(४) बँगला लिपि—यह लिपि ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'नागरी लिपि' से विकसित हुई है। इसका क्षेत्र भारत का पूर्वी भाग, मगध, बंगाल आदि है। बंगाल, बिहार, नैपाल, आसाम आदि से प्राप्त

दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के लेखों और दान-पत्रों में नागरी के ही नमूने मिले हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के पालवंशी राजा विजयपाल के देवपारा के लेख में नागरी में कुछ अक्षरों में पृथकता दिखायी पड़ती है, और उनका झुकाव बँगला की ओर हो गया है। श्री एस० एन० चक्रवर्ती के मत से प्राचीन बँगला लिपि का विकास सातवीं शताब्दी की उत्तर-भारत की लिपि से हुआ। सातवीं से नौवीं शताब्दी तक इसका स्वतन्त्र विकास होता रहा, परन्तु दसवीं शताब्दी में 'नागरी लिपि का इस पर प्रभाव पड़ा।' पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत तक बँगला लिपि का पूर्णतया विकास हो चुका था। आगे चलकर इसी से वर्तमान मैथिल, उड़िया, असमिया आदि लिपियाँ विकसित हुईं।

(प) असमिया लिपि—यह लिपि आसाम की प्रमुख भाषा असमिया के लिखने में प्रयुक्त होती है। इसका विकास बँगला लिपि से सोलहवीं शताब्दी के आस-पास हुआ है। दोनों लिपियों में बहुत ही कम अन्तर है।

(फ) उड़िया लिपि—उड़ीसा की भाषा उड़िया के लिखने में यह व्यवहृत होती है। इस लिपि का मूल स्रोत बँगला की तरह 'देवनागरी' ही है; पर तमिल और तेलुगू आदि लिपियों का प्रभाव भी इस पर इतना अधिक पड़ा है कि इसके अक्षर वर्तुलाकार हो गये हैं। इसके दो स्थानीय भेद हैं—

(१) ब्राह्मनी लिपि—ताड़-पत्रों पर लिखने के लिए इस विशिष्ट लिपि का प्रयोग होता है। यह धार्मिक ग्रंथ लिखने वाले ब्राह्मणों तक ही सीमित है, क्योंकि वे ही ताड़-पत्रों पर धार्मिक ग्रंथों को लिखते हैं।

(२) करनी लिपि—इस लिपि के आविष्कर्ता करण कायस्थ माने जाते हैं और उन्हीं के नाम से इसे 'करनी' संज्ञा मिली है। इसका प्रचलन कचहरी के कागज-पत्रों और दस्तावेजों तक ही सीमित है।

(ब) प्राचीन मनीपुरी लिपि—तिब्बती-बर्मी शाखा की बोली

मनोपुरी को लिखने के लिए इसका प्रयोग पहले होता था, परन्तु अब यह बहुत कम प्रयुक्त होती है ।

(भ) नेवारी लिपि—इस लिपि का दूसरा नाम 'प्राचीन नैपाली' भी है । हिमालय की एक उपभाषा नेवारी के लिखने में इसका प्रयोग होता है । इस लिपि में बौद्धों का साहित्य पर्याप्त भाषा में लिखा गया है ।

(इ) दक्षिणी शैली से विकसित होने वाली लिपियाँ

(१) पश्चिमी लिपि—'ब्राह्मी लिपि' का विकास दक्षिण भारत में कुछ भिन्न प्रकार से हुआ । इसका पश्चिमी रूप; जिसके सम्बन्ध में हम चर्चा करने जा रहे हैं; गुजरात, काठियावाड़, पश्चिमी महाराष्ट्र, कोंकण और हैदराबाद के कुछ भागों में ई० स० की पाँचवीं शताब्दी से नौवीं शताब्दी तक प्रचलित था । उत्तरी शैली के अत्यन्त समीप की लिपि होने का कारण उसका प्रभाव इस लिपि पर पड़ा है । भड़ौंच के गुर्जर-वंशियों, गुजरात के चालुक्यों और कलचुरियों के शिलालेखों तथा दान-पत्रों में इसके उदाहरण प्राप्त हुए हैं ।

(२) मध्य प्रदेशी लिपि—यह लिपि अपनी कुछ विशिष्टताओं के साथ विकसित हुई । इसके अक्षरों के सिर पर चौकोर संदूक जैसे आकार हैं । प्रायः अक्षरों की आकृति समकोण जैसी है । इसमें और पश्चिमी लिपि में बहुत कुछ समानता है और पश्चिमी लिपि की तरह इस पर भी उत्तरी शैली का प्रभाव पड़ा है । इसका प्रचार बुन्देलखंड, मध्य प्रदेश, हैदराबाद के उत्तरी भाग और मैसूर राज्य के कुछ भागों में ई० स० की पाँचवीं शताब्दी से नौवीं शताब्दी तक रहा । इसके नमूने 'वाकाटक वंशियों', महाकोशल के 'सोमवंशी' राजाओं के शिलालेखों और दानपत्रों में मिलते हैं । आगे चलकर यह लिपि समाप्त हो गयी या दूसरी लिपि में बदल गयी ।

(३) तेलुगू-कन्नड़ लिपि—दक्षिणी शैली की लिपियों में इस लिपि का स्थान सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन बम्बई राज्य में, दक्षिण में हैदराबाद के दक्षिण में, मैसूर और मद्रास के उत्तर-पूर्व में इस लिपि का प्रचार ई० स० की पाँचवी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक रहा। ग्यारहवीं शताब्दी में इसमें कुछ साधारण परिवर्तन हुए और आगे चल कर चौदहवीं शताब्दी तक आधुनिक 'तेलुगू' और 'कन्नड' लिपियाँ विकसित हुईं, इसके प्राचीन शिलालेख और दानपत्र हजारों की संख्या में प्राप्त हैं। पूर्वी चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के लेखों में इस लिपि के नमूने प्राप्त हैं। पूर्वी चालुक्यों और उत्तर के चालुक्यों की लिपि में थोड़ा बहुत अन्तर पाया जाता है।

(क) आधुनिक तेलुगू लिपि—ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है कि प्राचीन 'तेलुगू-कन्नड़' लिपि से इसका विकास हुआ है। ई० स० की पन्द्रहवीं शताब्दी तक आधुनिक रूपों का पूर्णतया विकास हो चुका था। वर्तमान आंध्र प्रदेश में इस लिपि का प्रचार है। 'तेलुगू' भाषा इसी लिपि में लिखी जाती है। इसमें 'ए' और 'ओ' के ह्रस्व तथा दीर्घ दो-दो और भेद हैं। 'तेलुगू' नाम शायद प्राचीन 'तिलंगाना' देश के नाम पर पड़ा है।

(ख) आधुनिक कन्नड़ लिपि—यह लिपि भी प्राचीन 'तेलुगू-कन्नड़' लिपि से विकसित हुई है। तेलुगू से इसके अक्षर मिलते-जुलते हैं और उसकी तरह 'ए' और 'ओ' के ह्रस्व व दीर्घ दो-दो और भेद हैं। इसका प्रचार सम्पूर्ण मैसूर राज्य में है। 'कन्नड़' भाषा इसी लिपि में लिखी जाती है। 'कन्नड' नाम प्राचीन 'कर्णाट' स्थान के नाम पर पड़ा हुआ जान पड़ता है।

(४) ग्रंथ लिपि—ई० स० की सातवीं शताब्दी से इस लिपि का प्रचलन प्राचीन मद्रास के उत्तरी-दक्षिणी भाग में और प्राचीन ट्रावनकोर राज्य में मिलता है। संस्कृत के ग्रंथ इस लिपि में लिखे जाते थे और

आज भी लिखे जाते हैं। इसलिए इसका नाम ग्रंथों की लिपि अर्थात् 'ग्रंथ-लिपि' पड़ा। इसके नमूने पल्लव, पाण्ड्य, और चोल राजाओं के लेखों तथा दान-पत्रों में प्राप्त होते हैं। काल-क्रमानुसार इसका विभाजन (क) प्राचीन ग्रंथ लिपि, जिसमें संस्कृत के प्राचीन लेख लिखे गये हैं; (ख) मध्य कालीन ग्रंथ लिपि, जो सातवीं शताब्दी के अन्त तक प्रचलित थी और (ग) उत्तर ग्रंथ लिपि; जो आठवीं, नौवीं शताब्दी में प्रचलित थी, इन तीन भागों में किया जा सकता है। आधुनिक ग्रंथ लिपि का विकास ई० स० की तेरहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। पंद्रहवीं शताब्दी के बाद 'ग्रंथ लिपि' का विकास दो स्रोतों में विभक्त हो गया, प्रथम ब्राह्मनिक और द्वितीय जैन लिपि। आज भी ये दोनों लिपियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं।

(च) आधुनिक ग्रंथ लिपि—इसका विकास ऊपर बताये हुए क्रमानुसार प्राचीन 'ग्रंथ लिपि' से ई० स० की पन्द्रहवीं शती के आस-पास हुआ। आज भी तमिल लिपि के क्षेत्र में इसका प्रयोग होता है; क्योंकि संस्कृत लिखने में 'ग्रंथ लिपि' ही उपयोगी है। आज-कल संस्कृत-पुस्तकें 'देव नागरी' लिपि में छपने लगी हैं और 'ग्रंथ लिपि' का प्रयोग कम हो गया है।

(छ) मलयालम लिपि—यह केरल प्रदेश की लिपि है और 'मलयालम भाषा' लिखने में प्रयुक्त होती है। इसका विकास ई० स० की बारहवीं शताब्दी में ग्रंथ लिपि से हुआ है। इसके अक्षर प्रायः गोलाकार होते हैं।

(ज) तुलु लिपि—इस लिपि का प्रचलन दक्षिण कन्नड़ प्रदेश के 'तुलु' बोलने वाले लोगों में संस्कृत लिखने के लिए है। यह 'ग्रंथ लिपि' से विकसित मलयालम लिपि का ही कुछ परिवर्तित रूप है।

तमिल लिपि—इस लिपि का प्रचार मद्रास के आस-पास ई० स० की सातवीं शताब्दी से है। कुछ विद्वान इसके ब्राह्मी से विकसित होने में

संदेह प्रकट करते हैं; पर उसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है। ब्राह्मी लिपि से ही इसकी उत्पत्ति पाँचवीं-छठी शताब्दी में हुई, किन्तु इसके साथ-साथ 'ग्रंथ लिपि' का भी प्रचार वहाँ रहा। 'तमिल' में द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ व्यंजनों के न होने से संस्कृत लिखने में 'ग्रंथ लिपि' का ही प्रयोग होता था। एक साथ व्यवहार में आने के कारण ग्रंथ लिपि का इस पर बहुत प्रभाव पड़ा है। दसवीं शताब्दी के आस-पास इसमें काफी परिवर्तन हुआ और चौदहवीं शताब्दी तक वर्तमान 'तमिल लिपि' का पूर्ण विकास हुआ।

आधुनिक तमिल लिपि—आधुनिक तमिल लिपि का प्रचार मद्रास राज्य में है। 'तमिल भाषा' इसी लिपि में लिखी जाती है। इसका विकास प्राचीन 'तमिल लिपि' से चौदहवीं शताब्दी में हुआ। इसके स्वरों में 'ए' और 'ओ' के दो और ह्रस्व रूप होते हैं। व्यंजन केवल अठारह होते हैं। कुछ ध्वनियों के लिए अक्षर नहीं हैं, वे प्रसंगानुसार उच्चरित होते हैं।

(६) कलिंग लिपि—यह लिपि पूर्व मद्रास राज्य के 'चिकाकोल' और गंजाम के बीच में ई० स० की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक प्रचलित थी। ऐसा लगता है कि इस लिपि में मध्य प्रदेशी लिपि का अनुकरण किया गया है। इसके अक्षरों के ऊपर भरे हुए चौकोर चित्र हैं और अक्षर समकोण युक्त भी हैं। इसके नमूने पूर्वी गंगा वंशी राजाओं के लेखों में प्राप्त होते हैं। इस लिपि पर तेलुगू, कन्नड़ और ग्रंथ लिपि का प्रभाव है। अब इसका प्रचार बिल्कुल नहीं है। इस लिपि से किसी ऐसी लिपि का विकास भी नहीं हुआ जिसमें उसकी कुछ विशेषताएँ निहित हों।

(७) बट्टेलुत्तु लिपि—सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मद्रास राज्य के पश्चिमी तट पर तथा सुदूर दक्षिण में इसका प्रचार था। चोल, पाण्ड्य आदि राजाओं के लेखों और दान-पत्रों में इसके नमूने प्राप्त हुए

हैं। श्री बर्नेल के अनुसार यह लिपि 'तमिल लिपि' का पूर्व रूप है। उन्होंने इसे 'किसी विदेशी लिपि का स्वतंत्र विकास' कहा है। श्री गौ० ही० ओझा के मत से यह लिपि तमिल लिपि का घसीट रूप है।

भारत के बाहर की लिपियाँ—यह पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है कि बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ भारतीय लिपि 'ब्राह्मी' भी विदेशों में गयी और वहाँ स्थानीय विशेषताओं के साथ वह कुछ दूसरे रूप में विकसित हुई। भारत के बाहर की ऐसी लिपियों का संक्षेप में यहाँ परिचय दिया जा रहा है—

(१) सिंहली लिपि—विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि 'ब्राह्मी-लिपि' लंका में ई० पू० चौथी शताब्दी में पहुँची और ई० पू० तीसरी शताब्दी में उसी से सिंहली लिपि का विकास हुआ। डॉ० दिरंगरे ने सिंहली लिपि के इतिहास को चार भागों में विभाजित किया है—

(क) पाली प्राकृत सिंहली—ई० पू० की तीसरी शताब्दी से ई० स० की चौथी शताब्दी तक।

(ख) पूर्व सिंहली—ई० स० की पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक।

(ग) मध्य सिंहलो—ई० स० की नौवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक।

(घ) आधुनिक सिंहली—ई० स० की तेरहवीं शताब्दी से अब तक।

आधुनिक सिंहली लंका के अधिक भाग में प्रयुक्त होती है। इस पर 'ग्रंथ लिपि' का काफी प्रभाव पड़ा है। इसमें कुल ५४ अक्षर हैं। सिंहली लिपि के दो भेद हैं—

(१) इलु लिपि - यह प्रायः कविता लिखने में प्रयुक्त होती है क्योंकि इसके अक्षर प्राचीन ध्वनि-संकेतों के लिए पर्याप्त हैं। आधुनिक ध्वनियों के लिए उसमें अक्षर नहीं हैं।

(२) सिंहल या मिश्र लिपि—यह आधुनिक सिंहली भाषा जो

विदेशी ध्वनियों से युक्त है, के लिखने में प्रयुक्त होती है। चूँकि यह कविता और आधुनिक सिंहली भाषा के लिए भी प्रयुक्त होती है, इसलिए इसे मिश्र-लिपि' भी कहते हैं।

(३) माल्दिवियन लिपि—इण्डियन सागर के 'माल्दिव' द्वीप में इस लिपि का प्रचार है। लंका से यहाँ के लोगों का पुराना सम्बन्ध था और बौद्ध शासक कई शताब्दियों तक यहाँ शासन कर चुके थे। इस लिपि के प्राचीनतम नमूने ई० स० की ग्यारहवीं शताब्दी तक के प्राप्त हुए हैं। इसका विकास 'ब्राह्मी लिपि' से हुआ है, पर सिंहली लिपि से अधिक प्रभावित है। इसके प्राचीनतम रूप का नाम 'एवेला अकुरु' था जो तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक प्रचलित था। आगे चलकर यही 'दिवेस अकुरु' में विकसित हुई, जिसका प्रचार लगभग अठारहवीं शताब्दी तक था। इसके दो रूप थे। एक के प्रत्येक अक्षर अलग-अलग लिखे जाते थे और दूसरे के मिलाकर। अठारहवीं शताब्दी में इस लिपि से 'गाबुली ताना' लिपि का विकास हुआ जो आजकल समस्त द्वीप में व्यवहृत होती है। यह लिपि अरबी, प्राचीन माल्दिवियन और सिंहली के मिश्रण से बनी है। गाबुली ताना के कई स्थानीय भेद भी हैं।

(३) सीरो मलाबारी लिपि—इस लिपि का प्रचार सीरिया मलाबार में है। वहाँ बहुत पहले से ही क्रिश्चियन रहते हैं। ऐसा अनुमान है कि वर्तमान लिपि उन्हीं लोगों की बनायी है; पर कुछ नमूने दसवीं शताब्दी के प्राप्त हुए हैं जिनमें 'गुप्त ब्राह्मी' के आकार के अक्षर हैं। यह सम्भव है कि बाद में पुरानी लिपि में कुछ सुधार करके आधुनिकीकरण कर लिया गया है। डॉ० बर्नर के अनुसार यह प्राचीन 'बहेलुत्तु' लिपि का एक विकसित रूप है।

(४) इण्डोनेशियाई लिपियाँ—इण्डोनेशिया में अधिकतर लोग साक्षर नहीं हैं। जो थोड़े से हैं वे अरबी किंवा रोमन लिपि का प्रयोग करते हैं। फिर भी वहाँ के कुछ लोग अपनी लिपि को ही व्यवहार में लाते हैं। यहाँ संक्षेप में कुछ लिपियों का परिचय दिया जा रहा है—

(क) मांग्यान लिपि—इस लिपि का प्रचलन 'बोर्नियो' में कई शताब्दी पूर्व था। वहाँ कुछ शिलालेख पाये गए हैं जो संस्कृत भाषा के हैं और 'मांग्यान लिपि' में लिखे गए हैं। यह लिपि निश्चित रूप से भारतीय लिपि की किसी शाखा का विकसित रूप थी। आजकल बोर्नियो में 'दयावस लिपि' का प्रचलन है।

(ख) प्राचीन जावानेजे य कावि लिपि—यह लिपि जावा द्वीप में प्रचलित है और जावानेजे, संदानेजे, मदुरेजे तथा बालिनेजे भाषाओं को लिखने के लिए प्रयुक्त होती है। इसका इतिहास काफी प्राचीन है। इसके प्राचीनतम उदाहरण ई० स० की आठवीं शताब्दी के प्राप्त हुए हैं। डॉ० ब्राण्डस का मत है कि इस लिपि का विकास आठवीं शताब्दी में गुजरातियों के जावा में आने से हुआ, परन्तु अधिकतर विद्वान यह मानते हैं कि यह प्राचीन 'ग्रंथ लिपि' का विकसित रूप है। 'कावि लिपि' के अन्तिम उदाहरण पन्द्रहवीं शताब्दी तक के मिलते हैं। सोलहवीं शताब्दी से 'मध्य जावेनेज लिपि' का प्रारम्भ होता है। उसी का विकसित रूप अठारहवीं शताब्दी में 'आधुनिक जावानेज' के रूप में आता है। इसकी कई उपलिपियाँ भी हैं; जैसे क्रामाइंगोल, बासा-केदातन, इंगोको आदि।

(ग) बटक लिपि—यह लिपि सुमात्रा में प्रचलित है। यह 'कावि' लिपि से निकली है। वैसे यहाँ के लोगों में अरबी और रोमन लिपियों का प्रचार है, पर यहाँ के मूल निवासी, जो बटक-जाति के हैं, 'बटक लिपि' का प्रयोग करते है। यह लिपि बड़ी ही विचित्र है। इसे पृष्ठ के नीचे से प्रारम्भ करके ऊपर के सिरे तक बायें से दायें लिखते हैं।

(घ) लाम्पांग और रेज्जांग लिपियाँ—ये लिपियाँ दक्षिण-पश्चिम सुमात्रा में 'लाम्पांग' और 'बटक' बोलियों के लिखने के लिए प्रयुक्त होती हैं। इसका प्रचार अधिकतर वहाँ के हिन्दुओं में ही है। इसका भी विकास 'प्राचीन कावि लिपि' से हुआ है। दोनों लिपियाँ एक-दूसरे से कहुत कुछ मिलती-जुलती हैं।

(ङ) केलेबस लिपि—'ईस्ट इण्डीज' के केलेबस द्वीप में यह लिपि 'बुगी' भाषा की एक बोली के लिखने में प्रयुक्त होती है। यह बहुत प्राचीन नहीं है। इसका प्रचार कावि-लिपि से 'बटक' के माध्यम से हुआ।

(च) बुगी लिपि—यह भी 'केलेबस' में 'बुगी' भाषा के लिए प्रयुक्त होती है। यह पूर्ण और बहुत हद तक वैज्ञानिक लिपि है। इस लिपि का विकास भी 'कावि-लिपि' से हुआ।

(५) चम्पा लिपि—इस लिपि का प्रयोग चम्पा द्वीप और कम्बोडिया में होता है। इसका प्राचीनतम रूप ई० स० की तीसरी शताब्दी को प्राप्त हुआ है। दक्षिणी भारत की लिपियों का इस पर पर्याप्त प्रभाव है। आठवीं शताब्दी में 'चम्पा लिपि' का पूर्णतया विकास हो चुका था। भारत की 'मध्य प्रदेशी लिपि' से यह मिलती है। 'चम्पा लिपि' पहले बायीं से दाहिनी ओर लिखी जाती थी; पर इस समय मुसलिम प्रभाव के कारण कुछ लोगों द्वारा यह दाहिने से बायीं ओर लिखी जाती है। आजकल इस लिपि को 'अखर-स्राह' कहते हैं। इसके दो भेद हैं। एक का प्रचलन अन्नाम में है और दूसरे का कम्बोडिया में। अन्नाम में 'चम्पा-लिपि' के अन्य भेद 'अखरिक', 'अखर अतुओ' और 'अखर योक' नाम की लिपियाँ भी प्रचलित हैं।

(६) ख्मेर लिपि—यह लिपि भी चम्पा और कम्बोडिया में प्रचलित है। इसका प्राचीनतम उदाहरण सातवीं शताब्दी का है। यह लिपि दक्षिण भारत की 'ग्रंथ लिपि' से बहुत कुछ मिलती है। धीरे-धीरे इसका विकास होता रहा और आधुनिक युग में 'अखर स्रींग' संज्ञा से यह प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'अक्षरमूल' नाम की एक और लिपि भी प्रचलित है।

(७) बर्मी लिपियाँ—बर्मा एक ऐसी जगह है जहाँ कई जातियों और भाषाओं के लोग आकर रहते हैं। इसीलिए वहाँ कई लिपियों का प्रयोग होता है। कुछ का परिचय नीचे दिया जा रहा है—

(ट) मान लिपि—इसका प्रचलन बर्मा में है। इसका प्राचीनतम लेख बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का है। इस लिपि पर दक्षिण भारत के 'पल्लवों' के 'ग्रन्थ लिपि' का अधिक प्रभाव है। इसके अक्षर गोल आकार के होते हैं। इसका प्रयोग बर्मा के वे निवासी करते हैं जो चम्पा या कम्बोडिया से आये हैं।

(ठ) प्यू लिपि—यह 'प्यू' जाति की लिपि है। इस समय इस लिपि का प्रचार बहुत कम हो गया है। तिब्बती-बर्मी शाखा की एक भाषा को लिखने में इसका प्रयोग होता है।

(ड) बर्मी लिपि—बर्मा के अधिकांश निवासी इस लिपि का प्रयोग करते हैं। बर्मी-लिपि में केवल 'पाली' अक्षर हैं। इसके दो भेद हैं—

(१) किंउसा लिपि—इसका उपयोग केवल पत्थरों पर लिखने के लिए होता है।

(२) पाली-लिपि—इसका उपयोग धार्मिक-बौद्ध पुस्तकों को लिखने के लिए होता है।

'किंउसा-लिपि' से 'चाल्हो-लिपि' का विकास हुआ जो आजकल बर्मा में प्रचलित है, यही मुद्रण के लिए भी प्रयुक्त होती है।

(ढ) करेन-लिपि—'करेन' जाति के लोग जो बर्मा में रहते हैं 'करेन-लिपि' का प्रयोग करते हैं। यह ई० स० १८३२ में मिशनरियों द्वारा आविष्कृत हुई, वैसे करेन लोगों की मूल-लिपि भी थी जो 'चम्पा' पर आधारित थी, पर वह अब लुप्त हो गयी है।

इसके अतिरिक्त 'शान' स्टेट के दक्षिण-पश्चिम और थाटन जिले में रहने वाले 'तांग्थू' और 'येन्नो' लिपि का प्रयोग करते हैं जो 'बर्मी लिपि' की ही शाखाएँ हैं।

(८) शान लिपियाँ—स्याम की भाषा थाई और उसकी बोलियों को लिखने के लिए कई लिपियाँ हैं। उनमें से सर्वप्रमुख 'लाओ' है।

(त) लाओ लिपि—'शान' शाखा की प्राचीनतम लिपि 'लाओ' है। स्थानीय परम्परा के अनुसार ईस्वी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी में 'लाओ लिपि' 'मान लिपि' से विकसित हुई है। आधुनिक 'लाओ लिपि' ठीक पुरानी जैसी है; पर उस पर 'बर्मी लिपि' का थोड़ा-सा प्रभाव अवश्य पड़ा है। 'लाओ लिपि' दक्षिणी चीन की 'मीक्यांग' नदी की पहाड़ी-घाटियों में रहने वाले 'मो सो' जाति द्वारा भी अपनायी गयी है।

(थ) लू और कुन लिपियाँ—ब्रिटिश शान स्टेट में थाई लोगों के अतिरिक्त जो रहते हैं वे लू और कुन बोली बोलते हैं। और उसे लिखने के लिए लू और कुन लिपि का प्रयोग करते हैं। यह 'लाओ लिपि' के बहुत समीप की है।

(द) अहामी लिपि—शान शाखा की एक बोली के लिए जो अब नहीं प्रचलित है, इस लिपि का प्रयोग होता था। आज भी वर्मा के पश्चिमी किनारे पर कुछ लोग इस लिपि को जानने वाले हैं।

(ध) खाम्ती लिपि—यह भी 'शान लिपि' का एक भेद है और वर्मा के ऊपरी भागों में प्रयुक्त होती है। इसकी भी कुछ उपलिपियाँ हैं।

(न) रोतोनिया लिपि—आसाम के 'शिव सागर' जिले का जो भाग वर्मा में है, वहाँ इस लिपि का प्रयोग होता है।

(९) स्यामी लिपि—इस लिपि का विकास तेरहवीं शताब्दी के अन्त में 'ख्मेर लिपि' के आधार पर 'सिंहली पाली' से हुआ। 'ग्रंथ लिपि' का भी इस पर प्रभाव है। आधुनिक स्यामी में प्राचीन स्यामी से कुछ अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। शायद यही एक लिपि है जिसमें स्वरों की संख्या सबसे ज्यादा (३०) है। मुद्रण आदि के अतिरिक्त 'टाइप राइटर' यंत्र आदि भी इस लिपि के बन गये हैं। यह स्याम देश में सर्वाधिक प्रचलित है और आधुनिक सभ्यता तथा संस्कृति की परिचायक है।

(१०) फिलीपाइन की लिपियाँ—फिलीपाइन कई छोटे-छोटे द्वीपों का समूह है। यहाँ ईसाई, मुसलमान, नीग्रितोस और ताग्वानुआ जाति के

भारत के भीतर की लिपियाँ

ब्राह्मी लिपि (ई० पू० ५०० से ई० पू० ३०० तक)

गुप्त ब्राह्मी लिपि (ई० स० ३०० से ई० स० ५०० तक)

भारत के बाहर की लिपियाँ
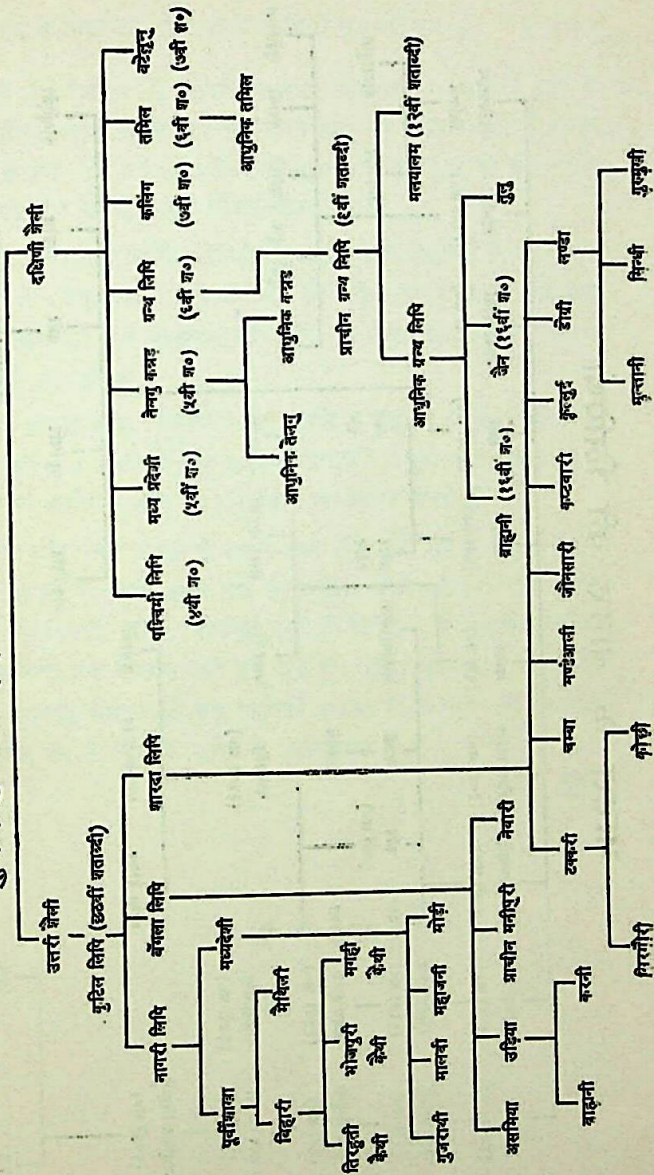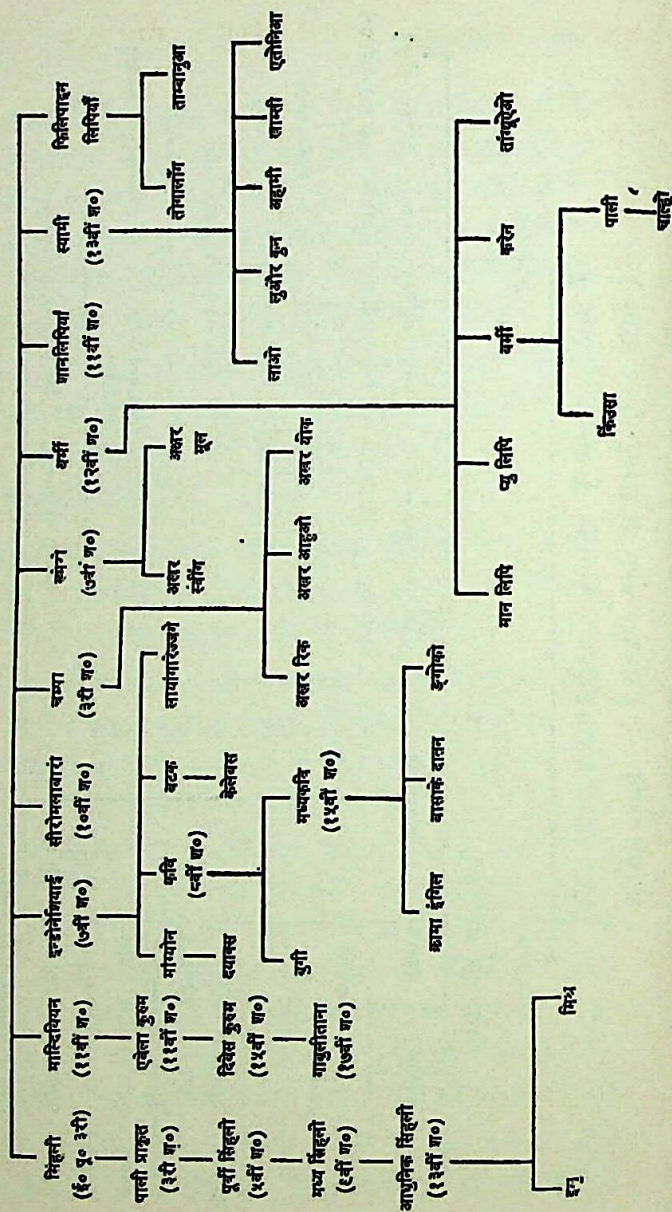
लोग रहते हैं। ईसाइयों के अतिरिक्त सभी 'मांम्यान' कहलाते हैं और वे 'हाम्यांग्यान' भाषा बोलते हैं। इस समय वहाँ की पुरानी लिपियाँ रोमन लिपि के कारण दब गयी हैं। फिर भी कुछ लोग उन लिपियों को जानने वाले मिलते हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

(प) तोगालाग लिपि—फ़िलीपाइन की सभी लिपियों में यह सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह कुछ विचित्र ढंग की लिपि है। इसके अक्षरों का क्रम बहुत ही टेढ़ा-मेढ़ा है। आजकल धीरे-धीरे इस लिपि का स्थान 'रोमन लिपि' लेती जा रही है।

(फ) ताग्बानुआ लिपि—यह लिपि 'प्राचीन कावि लिपि' से विकसित हुई है। इसका प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व नहीं होता है। 'ताग्बानुआ' जाति के लोग ही इस लिपि का प्रयोग करते हैं।

इसके अतिरिक्त भारत के बाहर कुछ और लिपियाँ हैं जो 'ब्राह्मी' से विकसित हुई हैं, किन्तु अभी तक उनके लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं प्राप्त हुए हैं। 'कोरियाई' और 'बोलीई' ऐसी हीं लिपियाँ हैं जिनके सम्बन्ध में विद्वान अभी तक एकमत नहीं हो पाये हैं। मेरा विश्वास है कि नवीन शोधों के पश्चात् अवश्य ही कुछ लिपियाँ प्रकाश में आयेंगी जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से 'ब्राह्मी लिपि' से सम्बन्धित हैं।

●

: ११ :

हिन्दी का भावी रूप

हिन्दी के भावी रूप पर दो दृष्टियों से विचार करना आवश्यक है। प्रथम भाषा-विकास के सिद्धान्त के अनुसार हिन्दी का भावी रूप क्या होगा और द्वितीय हिन्दी का भावी रूप क्या हो सकता है? सर्वप्रथम हम भाषा-विकास के सिद्धान्तों के आधार पर विचार करेंगे।

भाषा निरन्तर परिवर्तनशील है और उसमें अपने आप परिवर्तन होते रहते हैं। किन्तु यह परिवर्तन न तो एकाएक होता है और न कृत्रिम ढंग से सहसा किया ही जा सकता है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया स्वाभाविक ढङ्ग से धीरे-धीरे होती है। भाषा-शैली के रूप के लिए कोई नियम बनाकर उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। इतना अवश्य किया जा सकता है, कि उसके विकास के लिए सहायक सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है और विकास में आने वाली बाधाओं को हटाया जा सकता है। अतः हिन्दी के भावी रूप को हम पूर्णतः अपने मन से नहीं गढ़ सकते। ऐसी स्थिति में हिन्दी का भावी रूप क्या होना चाहिए—इस पर विवाद न करके हम यह समझें कि क्या होने की सम्भावना है?

हिन्दी अपने आप विकसित होगी और अपने चारों ओर के वातावरण से सामग्री लेकर अपने को पुष्ट बनाएगी। इस वातावरण के निर्माण में हमें जो करना है वह भावी रूप पर निश्चय ही बहुत बड़ा प्रभाव डालेगा। पहली बात यह है कि भाषा का विकास आवश्यकताओं के आधार पर होता है। मुगलों के शासनकाल में फारसी, और अंग्रेजों

के शासनकाल में अँग्रेजी इसी आधार पर विकसित हुई। हमें भी आज ज्ञान, विज्ञान, शिक्षा तथा सरकारी क्षेत्रों में हिन्दी-भाषा और शब्दावली की आवश्यकता है। अतः हम इस शब्दावली का निर्माण करें और उनको प्रयोग में ले आएँ। हिन्दी को जितना शीघ्र तथा अधिक अवसर प्रदान किया जायगा उतनी ही तीव्र गति से यह पुष्ट और संपन्न होगी।

दूसरी बात यह है कि किसी भाषा को प्रौढ़ बनाने के लिए एक दिन में गढ़ कर शब्दावली नहीं दी जा सकती। पारिभाषिक शब्द भले ही बनें, पर जब तक उनका ज्ञान, विज्ञान और साहित्य में प्रयोग नहीं होगा तब तक वे भाषा के अंग नहीं बन सकते। अतः नई शब्दावली का निर्माण ही प्रमुख कार्य नहीं है। प्रमुख कार्य है उसका प्रयोग। नये लेखक, विद्वान् तथा साहित्यकार जितनी तत्परता से पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करेंगे, हिन्दी उतनी ही जल्दी विकसित होगी।

भाषा की प्रवाहमान अवस्था को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी का विकास सम्पूर्ण देश में और सभी स्तरों पर एक ही रूप में नहीं होगा। देश और स्तर के अनुरूप हिन्दी के कई रूप होंगे। प्रत्येक प्रान्त की हिन्दी पर वहाँ की स्थानीय भाषा का प्रभाव अवश्य पड़ेगा। अतः प्रत्येक प्रान्त की हिन्दी में स्थानीय भाषा के कुछ शब्द होंगे और साथ ही साथ उसकी रचना-प्रक्रिया के अनुसार हिन्दी की रचना भी होगी। इसके अतिरिक्त उच्चारण पर भी प्रभाव पड़ेगा। जिस लहजे में वे अपनी मातृ-भाषा बोलते हैं उसका कुछ भाग हिन्दी में भी आ जायेगा। इस तरह प्रत्येक प्रान्त की हिन्दी में किंचित् भिन्नता होगी।

स्तर के अनुसार हिन्दी में कम-से-कम तीन स्तर होंगे। प्रथम विद्वानों, लेखकों की हिन्दी होगी, जिसमें ज्ञान, दर्शन तथा साहित्य की उच्चकोटि की पुस्तकें लिखी जाएँगी और जिसके माध्यम से विश्वविद्यालयों में साहित्य एवं दर्शन का अध्ययन एवं अध्यापन-कार्य होगा। इस हिन्दी में संस्कृत शब्दावली की बहुलता होगी।

द्वितीय स्तर की हिन्दी होगी सामान्य पढ़े-लिखे लोगों की, तीर्थों की और साधारण कहानी-उपन्यासों की जो मध्यम वर्ग के लोगों में प्रचलित होगी। इस हिन्दी में उर्दू शब्दों की अधिकता के साथ-साथ प्रत्येक प्रान्त या शहर की स्थानीय भाषा के शब्द भी होंगे। तीसरे प्रकार की हिन्दी वह होगी जो पूरे प्रान्त में ताँगे वाले, टैक्सी वाले, कुली तथा साधारण दूकानदार प्रयोग में लायेंगे। प्रान्त के प्रत्येक बड़े शहरों के बाजार में, रेलवे स्टेशन पर इसका प्रचार होगा। इसमें हिन्दी, उर्दू तथा स्थानीय भाषा के शब्दों के साथ अँग्रेजी और ग्राम्य भाषा के शब्द भी मिलेंगे। इसकी विशेषता शब्दावली में कम और रचना-पद्धति में अधिक होगी। एक प्रकार से इसे बाजारू भाषा कहा जा सकेगा।

जहाँ तक हिन्दी के भावी रूप का प्रश्न है, हिन्दी के विद्वान्, लेखक, कवि तथा सरकारी नीति उसके मोड़ में सहायक हो सकते हैं। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि इन सब लोगों की सहायता से हिन्दी के भावी रूप का निर्माण किया जा सकता है।

हिन्दी के भावी रूप का निर्माण करना समूचे देश के बच्चों की अगली पीढ़ी का निर्माण करना है, जिनकी कोई भाषा नहीं होती। भाषा केवल यांत्रिक पद्धति नहीं, बल्कि वह राष्ट्र एवं समाज-मानस भी है। भाषा किसी भी राष्ट्र के जीवन की सर्वाङ्गीण अभिव्यक्ति तथा सामाजिक सामूहिक चेतना का संयोजन-सूत्र है। भाषा का सम्बन्ध केवल संपन्न शब्दावली और अभिव्यक्ति की क्षमता से नहीं है, प्रत्युत् उसका सम्बन्ध राष्ट्र की सांस्कृतिक परम्पराओं, उसके जीवन-दर्शन और उसके विकास के इतिहास से होता है। अतः जब हम हिन्दी के भावी रूप की चर्चा करते हैं, तो हमें ऊपर के तथ्यों को भुला नहीं देना चाहिए।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के भावी रूप का निर्माण करने के लिए सद्यः दो प्रवृत्तियाँ या प्रयत्न स्पष्ट लक्षित हो रहे हैं। पहली प्रवृत्ति के अनुसार हिन्दी में संस्कृत शब्दों की अधिकता होनी चाहिए। संस्कृत भारतीय

भाषाओं की आधार-भूमि है और भारत की हर भाषा इससे सम्बद्ध है। अतः संस्कृत शब्दावली की प्रधानता होने से हिन्दी सबके लिए सरल और सुबोध होगी।

दूसरी के अनुसार लोगों का कहना है, कि हिन्दी जितनी आसान बन सके उतनी आसान बनानी चाहिए। इस आसानी के नाम पर उर्दू के शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग हिन्दी में करने का आग्रह किया जाता है। इसके पक्ष में यह तर्क उपस्थित किया जाता है, कि उर्दू के शब्द जो बहुत दिनों से हिन्दी में रम गये हैं। उनको निकाल कर संस्कृत कठिन शब्दों को भरना ठीक नहीं। इस सम्बन्ध में एक विद्वान का तर्क द्रष्टव्य है—"हिन्दी को ज्यादा से ज्यादा आसान, रवाँ और चालू बनाने की जरूरत है। अगर इसमें ऐसे नये लफ्जों की भरमार की गयी जिनको बोलने के लिए जबान को मरोड़ने की जरूरत है, तो इसमें सिर्फ जबान की सुन्दरता पर कुछ असर पड़ेगा, बल्कि उसकी तरक्की भी रुक जायेगी और आखिर में नतीजा यह निकलेगा कि या तो रोजमर्रा के इस्तेमाल से दस-बीस-पच्चास साल के बाद वह नामानुस लफ़्ज फिर हलके-हलके सलीस लफ़्ज बन जायँगे या जनता की जबान पर चढ़ भी न सकेंगे।"

इस प्रकार के विचारों-द्वारा हिन्दी में उर्दू शब्दों के अधिकाधिक प्रयोग की वकालत की जाती है। मैं इसके विरोध में नहीं हूँ, कि हिन्दी में उर्दू शब्द बिलकुल ही न हों। मैं तो कहता हूँ, कि उर्दू क्यों अरबी, फारसी, अँग्रेजी आदि के भी शब्द हों, लेकिन वे शब्द जो जनसामान्य में प्रचलित हो गये हों और जिन्हें भारत की अधिकाधिक जनता आसानी से समझ सके। इस प्रत्यक्ष सत्य को भुलाया नहीं जा सकता कि द्रविड़-परिवार की भाषाओं को छोड़कर भारत की सभी भाषाएँ एक ही मूल स्रोत से निकली हैं। अतः सभी भाषाओं की शब्दावली में पर्याप्त समानता है। उर्दू के शब्द उत्तर-भारत वालों के लिए भले ही प्रचलित और आसान लगें, परन्तु शेष अन्य प्रदेशों के लिए वह अपरिचित ही

हैं। उनके लिए संस्कृत के शब्द अधिक परिचित हैं। ऊपर के विद्वान के कथन में 'रवाँ' और 'सलीस' शब्द हिन्दी-भाषी भी नहीं समझ सकता। यदि इसके स्थान पर प्रवाहपूर्ण और सरल शब्द रक्खे जाते तो अन्य प्रान्त वाले भी उन्हें आसानी से समझ लेते। क्योंकि उनके पास आधार के रूप में संस्कृत की शब्दावली है। संस्कृत का एक ही रूप इन विभिन्न भाषाओं में थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ मिलता है; यथा—

१. संस्कृत—भ्रमर	२. प्रवाल
हिन्दी —भौंरा	प्रवाल
पंजाबी —भौंरा	—
काश्मीरी—बोम्बर	—
सिन्धी —भौंरो	—
मराठी —भुङ्गा	पोवल
गुजराती—भमरो	परवाल
बंगाली —भ्रमर	प्रोवाल
असामिया—भोमोरा	पोवाल
उड़िया —भओंर	प्राबाल
तेलुगू —	पमड्डम
तमिल —	पवलम
मलयालम—	पविलम्

तमिल, तेलुगू, कन्नड़, और मलयालम में तो किंचित् परिवर्तन के साथ संस्कृत के ही शब्द मिलते हैं, जब कि उर्दू के शब्द एकदम नये और भिन्न होते हैं। उदाहरणार्थ—'रत्न' शब्द सभी भारतीय भाषाओं में है। साथ ही तेलुगू में 'रत्नमु' तामिल में 'इररत्तिनम्' मलयालम में 'रत्नम्' तथा कन्नड़ में 'रत्न' मिलता है। आज इनके स्थान पर बहु-प्रचलित के नाम पर 'जवाहर' शब्द रखा जाय तो यह एकदम

अव्यवहार्य है। जवाहर शब्द नया है और अन्य भाषाओं के क्षेत्रों में प्रचलित नहीं है। द्रविड़ भाषाओं के क्षेत्र में तो एकदम ही नहीं। 'सूर्य' शब्द सभी भारतीय आर्य भाषाओं में है साथ ही तेलुगू में 'सूर्यडु', तमिल में 'सूरियन', मलयालम में 'सूर्यम' और कन्नड़ में 'सूर्य' है। इसके स्थान पर उर्दू का 'आफताव' रखा जाय तो भले ही कुछ लोगों को यह 'रवाँ' और 'सलीस' लगे; किन्तु व्यावहारिकता की दृष्टि से एकदम गलत है। इसी तरह मन्त्री, अनुवाद, विद्यार्थी, गद्य, विषय आदि शब्द भारतीय आम भाषाओं के अतिरिक्त द्रविड़ भाषाओं में भी प्रचलित हैं, पर उर्दू के वजीर, तर्जुमा, तालिबिल्म, नसर तथा मजमून आदि शब्द कहीं भी प्रचलित नहीं हैं। विज्ञान, शब्द-कोष, व्याकरण जैसे शब्द भी द्रविड़ भाषाओं में हैं, पर उर्दू के इल्महिकमत, लुगात और कवायदे जुबान आदि शब्द कहीं भी प्रचलित नहीं हैं।

हिन्दी की शब्दावली में संस्कृत शब्दों को प्रमुखता देने का एक कारण और है। ये संस्कृत के शब्द लगभग वेदकाल से ही भारतीय भाषाओं में उसी रूप में चले आ रहे हैं। नीचे कुछ शब्द दिये जा रहे हैं, जो तीन-चार हजार वर्षों से हमारी भाषाओं में अविकल रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं।

यजुर्वेद से—कक्षा, कण्ठ, कथा, कन्या, कपोत, कर्म, कलश, कवि, कुक्कुट, कुंभ, कुलाल, कृषि, केश, क्रीड़ा, क्रोध।

ऐतरेय ब्राह्मण से—अकाल, अक्षर, अंगुली, अंक, अतिथि, अधर, अनुचित, अनुरूप, अनुवाद, अन्तरिक्ष, अन्न, अपराह्न, अभिप्रेत, अभिषेक, अभीष्ट, अर्चन, अलंकार, अविधा, अश्लील, अहिंसा, वायु, अग्नि, वर्षा, पवन, विद्युत्, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, आकाश, नक्षत्र, गिरि, नदी, धारा, गुहा, समुद्र, दिन, रात्रि, सायं, प्रात, उषा, मुहूर्त, ऋतु, मास, पक्ष, वेला, वसन्त, ग्रीष्म, दुग्ध, मधु, घृत, दधि, रस, पुष्प, फल, वर्ण, गोत्र, जाति, सुवर्ण, रजत, रत्न, हल, रथ, चक्र, जीवन, मृत्यु, धैर्य, पाप, पुण्य, ज्ञान, विज्ञान, उपासना, समाधि, कूर्म, सर्प, संबंध, पति, पत्नी, माता, पिता, पुत्रवधु,

सम्राट, मंत्री, परिषद्, सेना, प्रजा, मानव, पुरुष, स्त्री, मित्र, शत्रु, हृदय, हस्त, चरण, शिर, जिह्वा, चक्षु, त्वचा, रक्त, मांस, अस्थि, मन, प्राण, बुद्धि, चित्त, अहंकार, सत्य, विद्या, गन्ध, स्पर्श, शब्द, गम्भीर, घोर, ज्येष्ठ, प्रत्यक्ष, प्रिय, नूतन, सनातन आदि ।

अतः यह स्पष्ट है कि हिंदी के भावी रूप में यदि संस्कृत की शब्दावली को प्रमुखता दी गयी तो इससे दो बहुत बड़े व्यावहारिक लाभ होंगे । एक तो यह कि आर्य भाषाओं के अतिरिक्त द्रविड़ भाषाओं में भी संस्कृत के जो शब्द मिलते हैं यदि वे ही हिन्दी में हुए तो उन्हें नये शब्द सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी और वे हिन्दी को आसानी से सीख जाएँगे । ये संस्कृत के शब्द सूत्र के रूप में सभी भाषाओं के पुष्पों में प्रविष्ट होकर एक हार तैयार कर देंगे, जिनमें विच्छिन्नता नहीं, एकता होगी; अलगाव नहीं, समग्रता होगी । दूसरा लाभ यह होगा कि हम अपने तीन-चार हजार वर्ष अतीत से सहज ही जुड़ जाएँगे । हमारा सारा अतीत हमारे सामने मुखर हो जायेगा और सारा देश अपने को संस्कृति के एक सूत्र में बँधा पाएगा ।